इतिहास दिवाकर

त्रैमासिक अनुसंधान पत्रिका

वर्ष १० अंक १ चैत्र मास कलियुगाब्द ५११६ अप्रैल २०१७

मार्गदर्शक :
डॉ० शिवाजी सिंह
चेतराम
इरविन खन्ना

सम्पादक :
डॉ० विद्या चन्द ठाकुर

सह सम्पादक
चेतराम गर्ग

सम्पादन सहयोग :
डॉ० रमेश शर्मा
डॉ० ओम प्रकाश शर्मा

टंकण एवं सज्जा :
रवि ठाकुर

सम्पादकीय कार्यालय :
ठाकुर जगदेव चन्द स्मृति शोध संस्थान,
नेरी, गांव-नेरी, डाकघर-खगल
जिला-हमीरपुर-१७७००१(हि०प्र०)
दूरभाष : ०१९७२-२०३०४४

मूल्यः
प्रति अंक - १५.०० रुपये
वार्षिक - ६०.०० रुपये

itihasdivakar@yahoo.com
chetramneri@gmail.com

अनुक्रमणिका

सम्पादकीय

नवसंवत्सर विशेष

उगतू पंचांग और नव संवत्सर	डॉ. ओम प्रकाश शर्मा	३
पुण्य प्रतापी राजा विक्रमादित्य	कृष्ण चन्द महादेविया	७

संवीक्षण

कर्मयोग में समता की आत्मौपम्य दृष्टि	लोकमान्य बाल गंगाधर	९

दिव्य विभूति

वज्रगुरु पद्मसम्भव : बुद्ध धर्म का भोट देश में धर्मध्वज वाहक	छेरिंग दोरजे	३०

शौर्य विभूति

महान सेनानायक जनरल जोरावर सिंह	राकेश कुमार शर्मा	३९

गतिविधियां

श्रद्धेय ठाकुर रामसिंह जी का जन्म दिवस	चेतराम गर्ग	४७

सम्पादकीय

गीता रहस्य : कर्मयोग शास्त्र

भारत के स्वतन्त्रता आन्दोलन में **स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है** के उद्घोषक लोकमान्य बालगंगाधर तिलक प्रखर राष्ट्र भक्त और राष्ट्रीय सांस्कृतिक चिन्तन के प्रखर पुरोधा थे। अंग्रेजी शासन के विरुद्ध राष्ट्रीय आन्दोलन में तिलक जी की सक्रिय भूमिका से अंग्रेज सरकार द्वारा इन्हें ईस्वी सन् १६०८ में मांडले जेल भेजा गया जहां वे १६१४ तक रहे। इसी बीच विक्रमी संवत् १६६७ की कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा से चैत्र कृष्ण अमावस्या के भीतर उन्होंने **गीता रहस्य** ग्रन्थ की पाण्डुलिपि जेल में ही पहले-पहल लिख कर तैयार की। यह कलियुगाब्द का ५०१२ तथा ईस्वी सन् के अनुसार १६१०-११ का वर्ष था। जेल से रिहा होने के उपरान्त सन् **१६१५** में गीता रहस्य मराठी में प्रकाशित हुई और आज से एक सौ वर्ष पहले **१६१७** में गीता रहस्य का हिन्दी संस्करण प्रकाशित हुआ।

गीता रहस्य के प्रथम प्रकरण के आरम्भ में ही गीता की सर्वोच्च श्रेयता का प्रतिपादन करते हुए तिलक जी ने लिखा है – **श्रीमद्भगवद्गीता हमारे धर्मग्रन्थों का एक अत्यन्त तेजस्वी और निर्मल हीरा है। निष्काम कर्त्तव्य के आचरण में लगाने वाला गीता के समान बालबोध ग्रन्थ, संस्कृत की कौन कहे, समस्त संसार के साहित्य में नहीं मिल सकता। इसमें आत्मज्ञान के अनेक गूढ़ सिद्धान्त ऐसी प्रासादिक भाषा में लिखे गए हैं कि वे बूढ़ों और बच्चों को एक समान सुगम है। इस ग्रन्थ में समस्त वैदिक धर्म का सार स्वयं श्रीकृष्ण भगवान की वाणी से संगृहीत किया गया है।**

लोकमान्य तिलक जी ने गीता के सदा सर्वदा प्रासांगिक कालजयी सत्य सनातन सिद्धान्तों का गीता रहस्य में विस्तार से सरल, सुबोध शैली में वर्णन किया है। गीता ने सर्वश्रेष्ठ कल्याण मार्ग निष्काम कर्म को माना है। इसी आधार पर **गीता रहस्य** को **कर्मयोग शास्त्र** कहा गया है। समाज में सब के हित में निष्काम भाव से काम करने की **आत्मौपम्य दृष्टि** अर्थात् दूसरे को अपने ही समान मनाने की समता की दृष्टि का होना अत्यन्त अनिवार्य है। गीता रहस्य के बारहवें प्रकरण के विषय अन्तर्गत वर्णित **आत्मौपम्य दृष्टि** से सम्बन्धित लेख इतिहास दिवाकर के प्रस्तुत अंक में सम्मिलित है।

नव संवत्सर कलियुगाब्द ५११६, विक्रमी संवत् २०७४ और शकाब्द १६३६ की अनन्त मंगलकामनाएं।

विनीत,

डॉ. विद्या चन्द ठाकुर

नव संवत्सर विशेष

उगतू पंचांग और नव संवत्सर

डॉ. ओम प्रकाश शर्मा

उगतू हिमाचल प्रदेश का एक पारम्परिक पहाड़ी पंचांग है। हिमाचल सृष्टि, स्थिति और लय के कालक्रमिक पक्षों को समेटे हुए है। ये कालक्रमिक पक्ष यहां के समाज की विभिन्न परम्पराओं एवं पद्धतियों में झलकते हैं। हिमालय की नदी घाटियों एवं तराईयों में बसे समाज के पास जो बौद्धिक सम्पदा विद्यमान है, उसके मूल में कालगणना के सिद्धान्त विशेष महत्त्व रखते हैं। इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर यहां का समाज सभ्यता के पथ पर अग्रसर हुआ। समाज के जीवन दर्शन में भी कालगणना के सिद्धान्तों की विशेष भूमिका दिखाई देती है। समाज को ब्रह्माण्डीय एवं मानवीय सृष्टि का सम्यक् कालबोध हो, इसी उद्देश्य से यहां कालगणना की विभिन्न परम्पराएं एवं पद्धतियां स्थापित हैं। इसी प्रकार की एक पद्धति पहाड़ी पंचांग **उगतू** में देखने को मिलती है।

हिमाचल के शिमला जनपदीय चौपाल के ग्राम बटेवड़ी, खद्दर, धारचानणा और मणेयोटी ग्राम पहाड़ी पंचांग उगतू को खोजने के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। यद्यपि हिमालय के अन्य क्षेत्रों में भी इस प्रकार की पद्धतियां विद्यमान रही हैं, परन्तु यहां पर उपर्युक्त ग्रामों में प्रचलित कालगणना के सिद्धान्त का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

बटेवड़ी, खद्दर, धारचानणा और मणेयोटी ग्राम पहले हिमाचल के महासू जिला के अन्तर्गत आते थे। वर्तमान में ये ग्राम शिमला जिले की चौपाल तहसील में स्थित है। यहां की बोली महासुवी है। महासुवी बोली में ही उगतू शब्द आया है जो पहाड़ी पंचांग के लिए प्रयुक्त होता है। पहाड़ी क्षेत्रों के गांव-गांव में प्रचलन के कारण उगतू पहाड़ी पंचांग के नाम से जाना जाता है। इन ग्रामों में उगतू खोजने की परम्परा वंशानुक्रम से चली आ रही है। वर्तमान में बटेवड़ी ग्राम में ही उगतू खोजने की परम्परा जीवित है। कुछ-कुछ कार्य धार चांनणा और मणेयोटी के ब्राह्मण भी इस पद्धति के अनुसार करते हैं। इस वैज्ञानिक युग में भी वंशानुक्रम से प्रचलित एवं मौखिक रूप से सीखी गई विद्या के आधार पर यदि तथ्यपरक कालगणना और वर्षभर का पूर्ण विवरण तैयार किया जाता हो तो आश्चर्य होना स्वाभाविक है। ये तथ्य निश्चय ही हिमालय के समाज के गहन, चिन्तन, मनन और साधना के पक्षों को उजागर करते हैं।

कालगणना की पद्धति : उगतू खोजने का शुभारम्भ मार्गशीर्ष मास में होता है। माघ, फाल्गुन और चैत्र कालगणना के विशेष मास माने जाते हैं। इन्हीं तीन मासों में कालगणना की प्रक्रिया पूर्ण की जाती है। सर्वप्रथम गांव के ज्योतिष विद्या के मर्मज्ञ विद्वान गांव के मन्दिर में ऐसे स्थान का चयन करते हैं जहां सूर्य की किरणें सीधी पड़े। वस्तुतः मन्दिर की स्थापना ही वास्तुशास्त्र के अनुरूप होती है

परन्तु फिर भी सूर्य की किरणों के अनुसार स्थान का चयन अपेक्षित होता है। स्थान के चयन के पश्चात् निर्धारित काल में कालगणना का मुख्य जानकार पण्डित एक 'लम्ब' स्वरूप खम्बा भूमि में गाड़ता है। स्थानीय बोली में इसे 'थाम्ब' कहा जाता है। इस खम्बे की परछाई जब ऊपर और नीचे के सिरे की सीध में आ जाती है, वहीं से कालगणना का शुभारम्भ होता है।

कालगणना की इस प्रारम्भिक इकाई में तिथि, वार, नक्षत्र, अयन और ग्रहों की स्थिति एवं गति का आकलन किया जाता है। ज्योतिष विद्या के जानकार अन्य सहायक पण्डित मुख्य विद्वान की सहायता करते हैं। प्रत्येक पण्डित का कार्य निर्धारित होता है। शुभमुहूर्त में एक चौड़ी तख्ती पर लाल मिट्टी का लेप लगाते हैं। तत्पश्चात् प्रत्येक रात्रि एवं उषा की वेला में ग्रहों की स्थिति, लव, निमेष, वार, तिथि आदि के अनुसार काल की गणना प्रारम्भ होती है। काल के प्रत्येक आकलन को उस मिट्टी से लिपि तख्ती पर अंकित किया जाता है। इस प्रक्रिया को 'दरोटला काटना' कहा जाता है। इस प्रक्रिया में सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण, वर्षफल, ग्रह-नक्षत्रों की स्थिति, ग्रहों के प्रभाव, व्रत, पर्व, त्यौहार आदि का पूरा लेखा-जोखा तैयार किया जाता है। 'दरोटला काटना' प्रक्रिया में खगोलीय गणित के सूक्ष्म बिन्दुओं को अंकित किया जाता है। यह प्रक्रिया इतनी वैज्ञानिक होती है कि वर्ष में लगने वाले सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण के काल में भी तनिक त्रुटि नहीं होती। वस्तुतः मन्दिर परिसर का चयनित स्थान कालगणना की वेधशाला होती है।

विद्वान पण्डितों द्वारा कालगणना के प्रत्येक वर्ष से सम्बन्धित गणित के प्रत्येक पक्ष को प्रमाणिक विधि से दो कागजों पर उतारा जाता है। जब कागज नहीं थे तो भोजपत्र प्रयोग में लाए जाते थे। छोटे कागज पर उतारे गए संक्षेप गणित को 'मलागू' कहा जाता है। इसके अतिरिक्त एक लम्बा कागज भी प्रयोग में लाया जाता है। इसे 'चिरी' कहा जाता है। चिरी में वर्षभर के प्रत्येक चरण को अंकित किया जाता है। इसी गणित के आधार पर नवसंवत्सर का प्रथम दिन निर्धारित होता है। जिस दिन नया सम्वत् प्रारम्भ होता है, उस दिन को **शौकर काल** (**शक्कर काल**) कहा जाता है।

कालगणना की सांचा पाण्डुलिपियां – उगतू खोजने के सूत्र पूर्व में मौखिक थे। परवर्ती काल में इन्हें लिपिबद्ध किया गया। लिपिबद्ध पाण्डुलिपियां **सांचा** कहलाती हैं।

सांचा पाण्डुलिपियों में उगतू खोजने का पूर्ण गणित विद्यमान है। बटेवड़ी ग्राम के पण्डितों के पास उगतू के सांचे विद्यमान हैं। पण्डित लच्छीराम ने ८५ वर्ष की उम्र तक इस पाण्डुलिपि का प्रयोग इस गणित के लिए किया था। यह सांचा आज भी उनके उत्तराधिकारियों के पास उपलब्ध हैं। सांचां ग्रन्थ की लिपि को **सदमाई** कहा जाता है। सदमाई को **भटाक्षरी लिपि** भी कहा जाता है। लिपि के कुछ अक्षर तो देवनागरी के हैं। परन्तु अधिकतर अक्षरों को पढ़ना आसान नहीं है। सदमाई किस लिपि से प्रभावित है, यह शोध का एक पृथक् विषय है परन्तु एक बात स्पष्ट है कि सांचा पाण्डुलिपियों की भाषा में अधिकतर शब्द संस्कृत के हैं। उदाहरणस्वरूप सांचा पाण्डुलिपि के प्रथम पृष्ठ के इस वाक्य

को देखें– **राम सत जी गू श्री गणेशाय नमः**। इन पाण्डुलिपियों में उगतू के सांचों में ही कालगणना के मूलसिद्धान्त निबद्ध हैं।

उगतू के सांचों में पंचांग निकालने की दो विधियां विद्यमान हैं। बटेवड़ी और मणेयोटी ग्राम के पण्डित इस पहाड़ी पंचांग का गणित चान्द्रमान से करते हैं और धार चानणा के पाबुच पण्डितों के गणित का आधार सूर्यसिद्धान्त है। चान्द्रमान से पहाड़ी पंचांग निकालने की पद्धति को **चन्दवाणी** अथवा **पण्डवाणी** भी कहते हैं। चन्दवाणी या पण्डवाणी वस्तुतः भटाक्षरी के ही रूप हैं। ये सांचा पाण्डुलिपियाँ सौरमान एवं चान्द्रमान, इन दोनों पद्धतियों को दर्शाती हैं। सौरमान से निकलने वाले इस पहाड़ी पंचांग का नववर्ष बैशाखी से और चान्द्रमान की गणना से प्रारम्भ होने वाला नववर्ष चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से माना जाता है।

सांचा पाण्डुलिपियों में चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से प्रारम्भ होने वाले वर्ष के महीने भटाक्षरी (सदमाई) लिपि में इस प्रकार है- चौईतर (चैत्र), बशाह (बैसाख), जेठ (ज्येष्ठ), शाड़ (आषाढ़), शाअण (श्रावण), भौज्ज (भाद्रपद), शऊज (आश्विन), काते (कार्तिक), मौंउशिर (मार्गशीर्ष), पोश (पौष), माअघ (माघ), फागण (फाल्गुन)। सौरमान का प्रथम मास बैशाख होता है। पाबुच ब्राह्मण प्राचीनकाल से सूर्यमान के आधार पर पहाड़ी पंचांग निकालते रहे हैं। आज भी पाबुच ब्राह्मणों की यही परम्परा है। बैशाख की सक्रान्ति को **बड़ा साजा** कहा जाता है। इस दिन मन्दिरों को सजाने की प्रथा है। पूरे मन्दिर में **बुरूंश** फूल की मालाओं को सजाया जाता है। इसे **बुरांस ढालना** कहा जाता है।

नवसंवत्सर उत्सव : पहाड़ी पंचांग उगतू के खोजने की प्रक्रिया पूर्ण हो जाने के पश्चात् वर्षफल को सुनाने की प्रथा है। जिस दिन नववर्ष का उत्सव होता है, उस दिन उषा की बेला में शुरजाई (देव कार्यों से सम्बद्ध व्यक्ति विशेष) देवस्नान करवाते हैं।

तत्पश्चात् देवपूजन होता है। गांव की स्त्रियां पंचगव्य का छिड़काव मन्दिर परिसर में करती हैं। मन्दिर परिसर में बीजे गए जौ के दानों में फटे अंकुरों को दर्शनार्थ आए लोगों को भेंट स्वरूप प्रदान किया जाता है। दर्शनार्थियों को वर्षफल सुनाया जाता है। देवता के बजंतरी चैत्रमास में घर-घर जाकर नववर्ष का बखान करते हैं। यह बखान पहाड़ी पंचांग के वर्षफल के आधार पर होता है। बजंतरी (ढाकी) समुदाय पूरे मास नाच-गान भी करते हैं। संवत् सुनाने में यह समुदाय ऐसे पारम्परिक गीतों और गाथाओं को चुनता है जिसमें इतिहास होता है। एक गीत की कुछ पंक्तियां यहां प्रमाण रूप से उद्धृत की जा रही है-

रीतअडिये आए रे सुहागणिये,	**हे सुहागिनो! अब बसन्त ऋतु आ गई है,**
आयो रे बाऊलो बसन्तअ,	**बावला बसन्त अपनी छटा बिखेर रहा है,**
आमै आए संवतअ शणादै,	**हम नया संवत् सुनाने आए हैं,**
तुएं जिअ लाखअ बौरशा,	**आप सभी लाखों वर्ष जीएं**
नेवलै फूले आम्बा-चाम्बा,	**कम ऊंचाई (नेवल) वाले क्षेत्रों में आम्बा-चाम्बा,**
दाखअ, धौणिया, औईनल-कौईनल,	**दाख, धनिया, औईनल-कौईनल,**

बांबी बाशै लो रे,	**बूटियां फूल रही है,**
पौरबौत फूले डांडणा बुरास।	**पर्वतों की देह पर बुरास फूल खिले रहे हैं।**

बजंतरी लोग जब नया संवत् सुनाने जाते हैं तो मन्दिर परिसर से जौ की नई फूटी कौंपलों को घर-घर बांटते हैं। इस परम्परा में नव वर्ष की सूचना एवं शुभकामनाएं निहित हैं। नवसंवत्सर का यह उत्सव समाज को पूरे वर्ष के निर्धारित कार्यों के लिए एक आधार प्रदान करता है।

भारतीय कालदृष्टि काल की सूक्ष्मातिसूक्ष्म इकाई से प्रलयपर्यन्त काल के घटकों का वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत करती है। इस विवेचन में भौतिक ब्रह्माण्ड और शरीर रूपी ब्रह्माण्ड की प्रकृति के अनुरूप काल के वैज्ञानिक पक्ष विद्यमान हैं। ऋषियों ने योग और साधना के बल पर काल के इन पक्षों को समाज के जीवनदर्शन के अनुरूप काल दृष्टि में ढाला। यहीं से काल का स्वरूप निर्धारित हुआ और इसी स्वरूप के आधार पर विभिन्न सिद्धान्त निर्मित हुए। कालगणना के ये सिद्धान्त सहज रीति से जनमानस के क्रियाकलापों में सम्मिलित हों, इस दृष्टिकोण से ही वैदिक कालदर्शक और विभिन्न प्रान्तीय कालदर्शक अस्तित्व में आए। इन कालदर्शकों में कालगणना के सृष्टि, स्थिति और लय के अनुरूप सभी अंग निबद्ध हैं। व्यक्ति और समाज का जीवन दर्शन आज भी कालगणना के इन्हीं सिद्धान्तों से चला करता है। यही भारतीय कालदृष्टि है। यही कालदृष्टि भारतीय जनमानस का प्राण है। श्रौत परम्परा से चली यह काल गणना परवर्ती काल में लिपिबद्ध भी की गई। हिमाचल की उगूत सांचा पाण्डुलिपियां इसके प्रमाण हैं।

सह-आचार्य संस्कृत, राजकीय महाविद्यालय
कोटशेरा, चौड़ा मैदान, जिला शिमला-४ (हि.प्र.)

पुण्य प्रतापी राजा विक्रमादित्य

कृष्ण चन्द महादेविया

आप कथा सुनेंगे? ..... क्या आपबीती या जगबीती?...........जगबीती। ...... तो सुनिए जी।

पुराने समय की बात है कि एक राजा थे उनका नाम था जी विक्रमादित्य। देखने में बहुत सुन्दर-स्वस्थ, बहुत वीर, निडर और सत्य बचनी, सच्चा न्याय करने वाले राजा थे। उनके राज्य में प्रजा और पंछी-पशु सभी बहुत आनन्द में रहते थे। अन्न और धन की कोई कमी नहीं थी। चारों ओर शान्ति और संतोष था। उनके राज्य में कोई भी मनुष्य दुःखी न था। राजा जी वेश बदल-बदल कर स्वयं अपने राज्य में भ्रमण कर जानकारी लेते रहते थे।

एक बार क्या हुआ कि राजा विक्रमादित्य अपनी रियासत का अकेले भ्रमण करते-करते बड़ी दूर निकल गए। उन्होंने अपना वेश बदला हुआ था। महाराज, राजा ने देखा कि सांप फन उठाए एक मेंढक को खाने के लिए तैयार था। मेंढक बहुत करुण स्वर में अपनी जान बचाने के लिए गिड़गिड़ा रहा था। विक्रमादित्य के मन में दया आ गई। उन्होंने सांप से प्रार्थना की कि वह मेंढक को न खाए। दूसरे की यूं भी जान लेना पाप है। सांप ने कहा। मुझे बहुत भूख लगी है। भूखे को भूखा रखना क्या पाप नहीं? अगर वह मेंढक उसे खाने नहीं देंगे तो उन्हें बहुत पाप लगेगा। भूखे को खाना नहीं देने का भी बहुत पाप होता है। वह तो है, किन्तु मेंढक की जान बचाना इस समय बहुत बड़ा धर्म है। सांप ने कहा कि इसका उपाय मैं बताता हूं। बताओ तो राजा ने कहा। आप मेंढक के बराबर मांस अपने शरीर से निकाल कर मुझे खाने को दो। राजा विक्रमादित्य मान गए। उन्होंने म्यान से तलवार निकाली और अपने पैर का अगूंठा काट कर सांप के आगे परोस दिया। राजा के पांव से बहुत खून निकला, वेदना भी बहुत अधिक थी राजा को। किन्तु राजा ने बहुत सहनशीलता से सब सह लिया। महाराज मेंढक ने राजा का बहुत एहसान माना और बहुत सी शुभकामनाएं देकर चार उछालें मारी और अदृश्य हो गया। सांप ने भी डकार लेकर राजा को शुभ बचन कहे और देखते-देखते अदृश्य हो गया।

राजा विक्रमादित्य अभी कुछ कदम ही चले होंगे कि एक गाय को बाघ ने दौड़ाया था। गाय दौड़ती-दौड़ती राजा के पीछे की ओर खड़ी हो गई। उसने राजा से कहा कि राजा तुम्हारे राज में यह कैसा न्याय है कि एक बाघ गाय को खा ले। क्या मेरी कदर नहीं रही है। अवश्य ही तुम्हारे राज में बुरे काम होते होंगे जिसके कारण बाघ की बुद्धि पलट गई है। वह मुझे खाने के लिए टूट पड़ा है। गाय की बात सुनकर राजा ने कहा कि हे गाय मेरा पूरा-पूरा प्रयत्न रहता है कि मेरे राज में कोई पाप और उपद्रव न हो। झूठ और बेईमानी न हो पर तब भी मैं पूरी जांच-पड़ताल कराऊंगा। किन्तु आपको में खाने नहीं दूंगा। बाघ से मैं निपटूंगा। राजा अभी बात कर ही रहा था कि बाघ भी छलांग लगाता पहुंच गया। महाराज, राजा ने तुरन्त म्यान से तलवार निकाली। खबरदार अगर आगे एक पंजा भी उठाया

तो। वन के राजा जाओ, वापिस लौट जाओ। मैं गाय माता को खाने नहीं दूंगा। चुपचाप लौट जाओ वर्ना मुझे तेरे टुकडे करने पड़ेगे।

ओ जी, बाघ वहीं खड़ा हो गया। बाघ ने विक्रमादित्य से कहा कि हे राजा, गाय मेरा शिकार है। इस समय भूख से मेरा बुरा हाल है और भूखे की भूख मिटाना हर राजा का कर्तव्य है। आपके राज में वन में मैं भी रहता हूं। या तो आप मेरा पेट भरिए या तो मुझे गाय खाने दो। राजा ने गाय की ओर देखा, वह डर के मारे कांप रही थी। राजा ने तलवार म्यान में डाली और कहा कि हे बाघ राजा इस गाय के बदले मुझे खा कर अपनी क्षुधा शान्त कर ले। ठीक है, ये तो बहुत ही अच्छा है, मैं तो मांस-खून खाने वाला प्राणी हूं। आपका शरीर भी बहुत अच्छा है। किन्तु अंग कटे आदमी का मांस क्यों खाऊं। आपके पांव से खून निकल रहा है, ये क्या बात है? राजा ने बहुत स्नेह से टालते हुए कहा - वन के राजा, चलते-चलते बड़े जोर से ठोकर लगी है, आप गम न करें, मैं पूरी तरह स्वस्थ हूं। बाघ ने कहा ठीक है तो अब मेरा भोजन बनने को तैयार हो जाओ। बाघ ने ओंठो पर जीभ फेर कर हल्की सी गुर्राहट की।

महाराज, राजा विक्रमादित्य ने सभी हथियार एक ओर रखे। गाय को साहस दिया और परमेश्वर का ध्यान किया। फिर आंखे बन्दकर, हाथ जोड़ कर बाघ के आगे अपने को खड़ा कर दिया। ओ जी, तभी क्या हुआ कि राजा के उपर फूलों की वर्षा होने लगी। यह सब अनुभव कर राजा ने आंखे खोली तो क्या देखा कि सामने ना तो बाघ था न ही गाय थी। वहां एक सुन्दर महिला शेर के ऊपर बैठी हुई थी और राजा की ओर देखती मुस्करा रही थी। राजा बहुत हैरान और परेशान हो गया था। महिला ने कहा, राजा मैं धरती मां हूं, बस तुम्हारी परीक्षा लेना चाहती थी और आप सफल हुए। मैं आपसे बहुत प्रसन्न हूं। बोलो– बेटा, कोई वर मांगो। ओ महाराज, राजा जी बहुत ही प्रसन्न हुए। राजा ने हाथ जोड़कर वन्दना की और कहा, हे मां मैं आपके दर्शन पाकर धन्य-धन्य हो गया हूं। मुझे बस आपका आशीर्वाद चाहिए। कोई वरदान नहीं चाहिए धरती मां।

राजा विक्रमादित्य की बात सुनकर धरती माता गदगद हो गई। धरती मां ने कहा, हे राजा विक्रमादित्य जब तक सूर्य और चन्द्रमा इस संसार में रहेंगे तुम्हारा नाम भी चमकता रहेगा। बेटे, सच्चा न्याय करने वाला और परमार्थ करने वाला मनुष्य सदैव अमर रहता है। मेरा आशीर्वाद तुम्हारे साथ है। यह कहकर धरती मां अदृश्य हो गई। महाराज, राजा के पैर का अंगूठा भी पुनः अंकुरित हो गया था। दर्द और लहू अदृश्य थे। अब राजा अपने महल की ओर लौट चले थे। तो जी, ऐसे थे राजा विक्रमादित्य। महाराज, वे वहां तो हम यहां। हां, उन्हीं पुण्य प्रतापी राजा विक्रमादित्य के नाम से हमारे देश का विक्रमी संवत् चलता है। यह चैत्र शुक्ल प्रतिपदा, जो चैत्र महीने का पहला नवरात्रा होता है उसी दिन शुरू होता है। इस दिन को नया संवत् के त्यौहार के रूप में मनाने की पुरातन परम्परा है।

विकास खण्ड कार्यालय पधर,
मण्डी (हि.प्र.) १७५०१२

संवीक्षण

कर्मयोग में समता की आत्मौपम्य दृष्टि

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक

स्थितप्रज्ञ ज्ञानी पुरुष की बुद्धि और उसका बर्ताव ही नीति नीतिशास्त्र का आधार है। उनसे निकलने वाले नीति-नियमों में उनके नित्य होने पर भी समाज की अपूर्णावस्था में थोड़ा-बहुत बदलना पड़ता है, तथा इस रीति से बदले जाने पर भी नीति-नियमों की नित्यता में उस परिवर्तन में कोई बाधा क्यों और कैसे नहीं आती। अब उस पहले प्रश्न का विचार करते हैं कि स्थितप्रज्ञ ज्ञानी पुरुष अपूर्णावस्था के समाज में जो बर्ताव करता है, उसका मूल अथवा बीज-तत्त्व क्या है? यह विचार दो प्रकार से किया जा सकता है। एक तो कर्त्ता की बुद्धि को प्रधान मानकर और दूसरा उसके बाहरी बर्ताव से। इनमें से यदि केवल दूसरी ही दृष्टि से विचार करें, तो विदित होगा कि स्थितप्रज्ञ जो-जो व्यवहार करते है, वे प्रायः सब लोगों के हित के ही होते हैं। गीता में दो बार कहा गया है, कि परम ज्ञानी सत्पुरुष **सर्वभूतहिते रताः** – प्राणिमात्र के कल्याण में निमग्न रहते हैं (गीता ५.२५.;१२.२); और महाभारत में भी यही अर्थ अन्य कई स्थानों में आया है। जैसे ऊपर कह चुके हैं कि स्थितप्रज्ञ सिद्धपुरुष अहिंसा आदि जिन नियमों का पालन करते हैं, वही धर्म अथवा सदाचार का नमूना है। इन अहिंसा आदि नियमों का प्रयोजन अथवा इस धर्म का लक्षण बतलाते हुए महाभारत में धर्म का बाहरी उपयोग दिखलाने वाले ऐसे अनेक वचन हैं– 'अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतहितं परम' (वन. २०६.७३) – अहिंसा और सत्य भाषण, ये नीति-धर्म प्राणिमात्र के हित के लिए हैं। 'धारणाद्धर्ममित्याहुः' (शां. १०६.१२) – जगत धारण करने से धर्म है। 'धर्मं हि श्रेय इत्याहुः' (अनु. १०५.१४) – कल्याण ही धर्म है। 'प्रभवार्थाय भूतानां धर्म प्रवचनं कृतम' (शा. १०६.१०) – लोगों के अभ्युदय के लिए ही धर्म-अधर्मशास्त्र बना है, अथवा ''लोकयात्रार्थमेवेह धर्मस्य नियमः कृतः। उभयत्र सुखोदर्कः' (शां. २५८.४) – धर्म-अधर्म के नियम इसलिए रचे गए हैं कि उनसे लोक-व्यवहार चले और दोनों लोकों में कल्याण हो। इसी प्रकार कहा है, कि धर्म-अधर्म संशय के समय ज्ञानी पुरुष को भी –

लोकयात्रा च द्रष्टव्या धर्मश्चात्महितानि च।

'लोक व्यवहार, नीति धर्म और अपना कल्याण – इन बाहरी बातों का तारतम्य से विचार करके' (अनु. ३७.१६; वन २०६.९०) फिर जो कुछ करना हो, उसका निश्चय करना चाहिए, और वनपर्व में राजा शिवि ने धर्म-अधर्म के निर्णयार्थ इसी युक्ति का उपयोग किया है (वन.१३१.११,१२)। इन वचनों से प्रकट होता है कि समाज का उत्कर्ष ही स्थितप्रज्ञ के व्यवहार की 'ब्रह्म नीति' होती है। और यदि यह ठीक है, तो आगे सहज ही यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि आधिभौतिकवादियों के इस 'अधिकांश लोगों के अधिक सुख अथवा (सुख शब्द को व्यापक करके) हित या कल्याण' वाले

नीति-तत्त्व को अध्यात्मवादी भी क्यों नहीं स्वीकार कर लेते? इस 'अधिकांश लोगों के अधिक सुख' सूत्र में बुद्धि के आत्म प्रसाद से होने वाले सुख का अथवा उन्नति का और पारलौकिक कल्याण का अन्तर्भाव नहीं होता – इसमें यह बड़ा भारी दोष है। किन्तु 'सुख' शब्द का अर्थ अधिक व्यापक करके यह दोष अनेक अंशों में निकाला जा सकेगा; और नीति धर्म की नित्यता के संबन्ध में ऊपर दी ही हुई आध्यात्मिक उत्पति भी कई लोगों को विशेष महत्त्व की जंचेगी। इसलिए नीतिशास्त्र के आध्यात्मिक और आधिभौतिक मार्गों में जो महत्त्व का भेद है, उसका यहां और थोड़ा-सा स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है।

नीति की दृष्टि से किसी कर्म की योग्यता अथवा अयोग्यता का विचार दो प्रकारों से किया जाता है – १. उस कर्म का केवल बाह्य फल देखकर अर्थात् यह देखकर कि उसका दृश्य परिणाम जगत् पर क्या हुआ है या होगा? २. यह देखकर, कि उस कर्म को करने वाले की बुद्धि अर्थात् वासना कैसी है? पहले को आधिभौतिक मार्ग कहते हैं। दूसरे के फिर दो पक्ष होते हैं; और इन दोनों के पृथक्-पृथक् नाम हैं। शुद्ध कर्म होने के लिए वासनात्मक बुद्धि शुद्ध रखनी पड़ती है और वासनात्मक बुद्धि शुद्ध रखने के लिए व्यवसायात्मक अर्थात् कार्य-अकार्य का निर्णय करने वाली बुद्धि भी स्थिर, सम और शुद्ध रखनी चाहिए। इन सिद्धान्तों के अनुसार किसी के भी कर्मों की शुद्धता जांचने लगें, तो अन्त में देखना ही पड़ता है, कि व्यवसायात्मक बुद्धि शुद्ध है या अशुद्ध? सारांश, कर्ता की बुद्धि अर्थात् वासना की शुद्धता का निर्णय अन्त में व्यवसायात्मक बुद्धि की शुद्धता से करना पड़ता है (गीता २.४१)। इसी व्यवसायात्मक बुद्धि को सदसद्विवेचन-शक्ति के रूप में स्वतन्त्र देवता मान लेने से वह आधिदैविक मार्ग हो जाता है। परन्तु यह बुद्धि स्वतन्त्र दैवत नहीं है, किन्तु आत्मा का एक अन्तरिंद्रिय है, अतः बुद्धि को प्रधानता न देकर, आत्मा को प्रधान मान करके वासना की शुद्धता का विचार करने से यह नीति के निर्णय का आध्यात्मिक मार्ग हो जाता है। हमारे शास्त्रकारों का मत है कि इन सब मार्गों में आध्यात्मिक मार्ग श्रेष्ठ है; और प्रसिद्ध जर्मन तत्त्ववेता कांट ने यद्यपि ब्रह्मात्मैक्यक सिद्धान्त स्पष्ट रूप से नहीं दिया है, तथापि उसने अपने नीतिशास्त्र के विवेचन का आरंभ शुद्ध बुद्धि से अर्थात् एक प्रकार से अध्यात्म दृष्टि से ही किया है, एवं उसने इसी की पूर्ण उपपति भी दी है, कि ऐसा क्यों करना चाहिए। ग्रीन का अभिप्राय भी ऐसा ही है। कोई भी कर्म तभी होता है, जबकि पहले उस कर्म को करने की बुद्धि उत्पन्न हो, इसलिए कर्म की योग्यता-अयोग्यता का विचार भी सभी अंशों में बुद्धि की शुद्धता-अशुद्धता के विचार पर ही अवलंबित रहता है। बुद्धि बुरी होगी; तो कर्म भी बुरा होगा, परन्तु केवल बाह्य कर्म के बुरे होने से ही यह अनुमान नहीं किया जा सकता, कि बुद्धि भी बुरी होनी ही चाहिए। क्योंकि मूल से, कुछ का कुछ समझ लेने से अथवा अज्ञान से भी वैसा कर्म हो सकता है; और फिर उसे नीतिशास्त्र की दृष्टि से बुरा नहीं कह सकते। 'अधिकांश लोगों के अधिक सुख'– वाला नीतिशास्त्र तत्त्व केवल बाहरी परिणामों के लिए ही उपयोगी होता है, और जबकि इन सुख-दुःखात्मक बाहरी परिणामों को निश्चित रीति के मापने का बाहरी साधन अब तक नहीं मिला है,

तब नीति तत्त्वों की इस कसौटी से सदैव यथार्थ निर्णय होने का भरोसा भी नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार मनुष्य कितना ही सयाना क्यों न हो जाय, यदि उसकी बुद्धि पूर्ण शुद्ध न हो गई हो तो यह नहीं कह सकते, कि वह प्रत्येक अवसर पर धर्म से ही बरतेगा। विशेषतः जहां उसका स्वार्थ आ डटा, वहां तो फिर कहना ही क्या है – 'स्वार्थे सर्वे विमुह्यन्ति येऽपि धर्मविदे जनाः' (मभा.वि. ५१.४)। सारांश, मनुष्य कितना ही बड़ा ज्ञानी, धर्मवेता और सयाना क्यों न हो, किन्तु यदि उसकी बुद्धि प्राणिमात्र में सम न हो गई हो, तो यह नहीं कह सकते कि उसका कर्म सदैव शुद्ध अथवा नीति की दृष्टि से निर्दोष ही रहेगा। अतएव हमारे शास्त्रकारों ने निश्चित कर दिया है कि नीति का विचार करते समय कर्म के बाह्य फल की अपेक्षा कर्ता की बुद्धि का ही प्रधानता से विचार करना चाहिए। साम्य-बुद्धि ही अच्छे बर्ताव का चौखा बीज है। यही भावार्थ भगवद्गीता के इस उपदेश में भी है (गीता २.४९) –

दूरेन ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः।।

कुछ लोग, इस श्लोक में, बुद्धि का अर्थ ज्ञान समझकर कहते हैं, इसमें कर्म और ज्ञान, इन दोनों में से ज्ञान को ही श्रेष्ठता दी है। पर हमारे मत में यह अर्थ ठीक नहीं है। इस स्थल पर शांकरभाष्य में भी 'बुद्धियोग' का अर्थ 'समत्व बुद्धियोग' दिया हुआ है; और यह श्लोक कर्मयोग के प्रकरण में आया है। अतएव वास्तव में इसका अर्थ कर्मप्रधान ही करना चाहिए और वहीं सरल रीति से ही है। कर्म करने वाले लोग दो प्रकार के होते हैं। पहले प्रकार के फल पर, उदाहरणार्थ – उससे कितने लोगों को कितना सुख होगा, इस पर दृष्टि जमा कर कर्म करते हैं और दूसरे बुद्धि को सम और निष्काम रखकर कर्म करते हैं, फिर कर्म-धर्म संयोग से उससे जो परिणाम होना हो, सो हुआ करे। इनमें से 'फलहेतव' अर्थात् 'फल पर दृष्टि रखकर कर्म करने वाले' लोगों को नैतिक दृष्टि से कृपण अर्थात् कनिष्ठ श्रेणी के बतलाकर, समत्व बुद्धि से कर्म करने वालों को इस श्लोक में श्रेष्ठता दी है। इस श्लोक के पहले दो चरणों में जो यह कहा है, कि 'दूरेणा ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय'– हे धनंजय! समत्व बुद्धियोग की अपेक्षा (कोरा) कर्म अत्यंत निकृष्ट है – उसका तात्पर्य यही है; और जब अर्जुन ने यह प्रश्न किया, कि 'भीष्म द्रोण को कैसे मारूं?, तब उसको यही उत्तर दिया गया। इसका भावार्थ यह है कि मरने या मारने की निरी क्रिया की ओर ध्यान न देकर, देखना चाहिए, कि तू बुद्धि अर्थात् सम-बुद्धि की शरण जा, और 'बुद्धियोग का आश्रय करके तू अपने कर्म कर।' गीता के दूसरे एक श्लोक से भी व्यक्त होता है कि गीता निरे कर्म के विचार को कनिष्ठ समझकर, उस कर्म की प्रेरक बुद्धि के ही विचार को श्रेष्ठ मानती है। अठारहवें अध्याय में कर्म के भले-बुरे अर्थात् सात्त्विक, राजस और तामस-भेद बतलाए गए हैं। यदि केवल कर्म फल की ओर ही गीता की दृष्टि होती, तो भगवान ने यह कहा होता, कि जो कर्म बहुतेरों को सुखदायक हो, वही सात्त्विक है। परन्तु ऐसा न बतलाकर, अठारहवें अध्याय में कहा है, कि 'फलाशा छोड़कर निस्संग-बुद्धि से किया हुआ कर्म सात्विक अथवा उत्तम है' (गीता १८.२३)। अर्थात् इससे प्रकट होता है कि कर्म के साथ फल की अपेक्षा कर्ता की निष्काम, सम और निस्संग बुद्धि को ही कर्म अकर्म का विवेचन करने में गीता अधिक महत्त्व देती है।

यही न्याय स्थितप्रज्ञ के व्यवहार के लिए उपयुक्त करने से होता है, कि स्थितप्रज्ञ जिस साम्य-बुद्धि से अपनी बराबरी वाले, छोटे और साधारण लोगों के साथ बरतता है, वह साम्य बुद्धि ही उसके आचरण का मुख्य तत्त्व है, और इस आचरण से जो प्राणिमात्र का मंगल होता है, वह इस साम्य बुद्धि का निरा बाहरी और आनुषंगिक परिणाम है। ऐसे ही जिसकी बुद्धि पूर्णावस्था में पहुंच गई हो, वह लोगों को केवल आधिभौतिक सुख प्राप्त करा देने के लिए ही अपने सब व्यवहार न करेगा। यह ठीक है, कि वह दूसरों का नुकसान न करेगा, पर यह उसका मुख्य ध्येय नहीं है। स्थितप्रज्ञ ऐसे प्रत्यन्न किया करता है, जिनसे समाज के लोगों की बुद्धि अधिकाधिक शुद्ध होती जावे और अन्त में वे लोग अपने समान ही आध्यात्मिक पूर्णावस्था में जा पहुंचें। मनुष्य के कर्तव्यों में से यही श्रेष्ठ और सात्त्विक कर्तव्य है। केवल आधिभौतिक सुख-बुद्धि के प्रयत्नों को हम गौण अथवा राजस समझते हैं।

गीता का सिद्धान्त है कि कर्म-अकर्म के निर्णयार्थ कर्म के बाह्य फल पर ध्यान न देकर, कर्ता की शुद्ध बुद्धि को ही प्रधानता देनी चाहिए। इस पर कुछ लोगों का यह तर्कपूर्ण मिथ्या आक्षेप है कि यदि कर्मफल को न देखकर केवल शुद्ध बुद्धि का ही इस प्रकार विचार करें, तो मानना होगा कि शुद्ध बुद्धि वाला मनुष्य कोई भी बुरा काम कर सकता है और तब तो वह भी सभी बुरे कर्म करने के लिए स्वतन्त्र हो जाएगा। इस आक्षेप को हमने केवल अपनी ही कल्पना के बल से नहीं धर घसीटा है, किन्तु गीताधर्म पर कुछ पादरी बहादुरों के लिए हुए इस ढंग के आक्षेप हमारे देखने में आए हैं। किन्तु हमें यह कहने में कोई भी दिक्कत नहीं जान पड़ती कि ये आरोप या आक्षेप बिल्कुल मूर्खता के अथवा दुराग्रह के हैं। और यह कहने में भी कोई हानि नहीं है कि पादरी मानवों की बुद्धि वैदिक धर्म के स्थितप्रज्ञ की आध्यात्मिक पूर्णावस्था का निरा आकलन करने में भी, स्वधर्म के व्यर्थ दुराग्रह अथवा और कुछ ओछे एवं दुष्ट मनोविकारों से असमर्थ ही हो गई है। उन्नीसवीं सदी के प्रसिद्ध जर्मन तत्त्वज्ञानी कांट ने अपने नीतिशास्त्र विषयक ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर लिखा है कि कर्म के बाहरी फल को न देखकर नीति के निर्णयार्थ कर्ता की बुद्धि का ही विचार करना उचित है। किन्तु हमने नहीं देखा कि कांट पर किसी ने ऐसा आक्षेप किया हो। फिर वह गीता के नीतितत्त्व को ही उपयुक्त कैसे होगा? प्राणिमात्र में समबुद्धि होते ही परोपकार करना तो देह का स्वभाव बन जाता है, और ऐसा हो जाने पर परम ज्ञानी एवं परम शुद्ध बुद्धि वाले मनुष्य के हाथ से कुकर्म होना उतना ही असंभव है, जितना कि अमृत से मृत्यु हो जाना। कर्म के बाह्य फल का विचार न करने के लिए जब गीता कहती है, तब उसका यह अर्थ नहीं है, कि जो दिल में आ जाए, सो किया करो। प्रत्युत गीता कहती है कि बाहरी परोपकार करने का स्वांग पाखंड से या लोभ से बना सकता है, किन्तु प्राणिमात्र में एक आत्मा को पहचानने से बुद्धि में जो स्थिरता और समता आ जाती है, उसका स्वांग कोई नहीं बना सकता, तब किसी भी काम की योग्यता-अयोग्यता का विचार करते समय कर्म के बाह्य परिणाम की अपेक्षा कर्ता की बुद्धि पर योग्य दृष्टि रखनी चाहिए। गीता का संक्षेप में यह सिद्धान्त कहा जा सकता है, कि कोरे जड़ कर्मों में ही नीतितत्त्व नहीं, किन्तु कर्ता की बुद्धि पर वह सर्वथा अवलंबित रहता है। आगे गीता में ही (गीता १८. २५) कहा है कि आध्यात्मिक सिद्धान्त के ठीक तत्त्व को न समझकर कोई यदि कोई मनमानी करने

लगे, तो उस पुरुष को राक्षस या तामसी बुद्धि वाला कहना चाहिए। एक बार समबुद्धि हो जाने से फिर उस पुरुष को कर्तव्य-अकर्तव्य का और अधिक उपदेश नहीं करना पड़ता। इसी तत्त्व पर ध्यान देकर साधु तुकाराम ने शिवाजी महाराज को जो यह उपदेश किया कि इसका एक ही कल्याणकारक अर्थ है कि प्राणिमात्र में एक आत्मा को देखो, उसमें भी भगवद्गीता के अनुसार कर्मयोग का एक ही तत्त्व बतलाया गया है (तु.गा. ४४२८.६१)। यहां फिर भी कह देना उचित है कि यद्यपि पूर्ण साम्यबुद्धि ही सदाचार का बीज हो, तथापि इससे यह भी अनुमान न करना चाहिए कि जब तक इस प्रकार की पूर्ण शुद्ध बुद्धि न हो जावे, तब तक कर्म करने वाला चुपचाप हाथ पर हाथ धरे बैठा रहे। स्थितप्रज्ञ के समान बुद्धि कर लेना तो परम ध्येय है। परन्तु गीता के आरम्भ में ही (गीता २.४०) यह उपदेश किया है कि इस परम ध्येय के पूर्णतया सिद्ध होने तक प्रतीक्षा न करके जितना हो सके उतना ही निष्काम बुद्धि से प्रत्येक मनुष्य अपने कर्म करता रहे, इसी से बुद्धि अधिक शुद्ध होती चली जाएगी और अन्त में पूर्ण सिद्ध हो जाएगी। ऐसा आग्रह करके समय को मुफ्त न गंवा दे कि जब तक पूर्ण सिद्धि पा न जाऊंगा, तब तक कर्म करूंगा ही नहीं।

'सर्वभूतहित' अथवा 'अधिकांश लोगों के अधिक कल्याण' वाला नीति-तत्त्व केवल बाह्य कर्म उपयुक्त होने के कारण शाखाग्राही और कृपण है, परन्तु 'प्राणिमात्र में एक आत्मा' वाली स्थितप्रज्ञ की 'साम्यबुद्धि' मूलग्राही है और उसी को नीति निर्णय के काम में श्रेष्ठ मानना चाहिए। इस प्रकार यद्यपि यह बात सिद्ध हो चुकी, तथापि इस पर अनेक के आक्षेप हैं कि इस सिद्धान्त से व्यावहारिक बर्ताव की उपपति ठीक-ठीक नहीं लगती। ये आक्षेप प्रायः संन्यास मार्गी स्थितप्रज्ञ के संसारी व्यवहार को देखकर ही इन लोगों को सूझे हैं। किन्तु थोड़ा-सा विचार करने से किसी को भी सहज ही दीख पड़ेगा कि ये आक्षेप स्थितप्रज्ञ कर्मयोगी के बर्ताव को उपयुक्त नहीं होते। और तो क्या? यह भी कह सकते हैं कि प्राणिमात्र में एक आत्मा अथवा आत्मौपम्य बुद्धि के तत्व से व्यावहारिक नीति-धर्म की जैसी अच्छी उपपति लगती है, वैसी और किसी भी तत्त्व से नहीं लगतीं। उदाहरण के लिए सब देशों में और सब नीतिशास्त्रों में प्रधान माने गए परोपकार धर्म की जैसी उपपत्ति लगती है, वैसी किसी भी आधिभौतिकवाद से नहीं लगती। बहुत हुआ तो, आधिभौतिकशास्त्र इतना ही कह सकते हैं कि परोपकार बुद्धि एक नैसर्गिक गुण है और वह उत्क्रान्तिवाद के अनुसार बढ़ रहा है। किन्तु इतने से ही परोपकार की नित्यता सिद्ध नहीं हो जाती। यही नहीं बल्कि स्वार्थ और परार्थ के झगड़े में, इन दोनों घोड़ों पर सवार होने के लालची चतुर स्वार्थियों को भी अपना मतलब गांठने में इसके कारण अवसर मिल जाता है। इस पर भी कुछ लोग कहते हैं कि परोपकार बुद्धि की नित्यता करने से लाभ ही क्या है? प्राणिमात्र में एक ही आत्मा मानकर यदि प्रत्येक पुरुष सदैव प्राणिमात्र का ही हित करने लग जाए, तो उसका जीवन-निर्वाह कैसे होगा? और जब वह इस प्रकार अपना ही योगक्षेम नहीं चला सकेगा, तब वह और लोगों का कल्याण कर ही कैसे सकेगा? लेकिन ये शंकाएं न तो नई ही हैं और न ऐसी हैं कि जो टाली न जा सकें। भगवान ने गीता में ही इस प्रश्न का यों उतर दिया है – 'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्' (गीता. ६.२२); और अध्यात्मशास्त्र की

युक्तियों से भी यही अर्थ निष्पन्न होता है। जिसे लोककल्याण करने की बुद्धि हो गई, उसे खाना-पीना नहीं छोड़ना पड़ता, परन्तु उसकी बुद्धि ऐसी होनी चाहिए कि मैं लोकोपकार के लिए ही देह धारण करता हूं। जनक ने कहा है (मभा.अश्व.३२) कि जब ऐसी बुद्धि रहेगी, तभी इंद्रियां वश में रहेंगी, और लोक-कल्याण होगा और मीमांसकों के इस सिद्धान्त का तत्त्व भी यही है कि यज्ञ करके शेष बचा हुआ अन्न ग्रहण करने वाले को 'अमृताशी' कहना चाहिए (गीता ४.३१)। क्योंकि उनकी दृष्टि से जगत् का धारण पोषण करनेवाला कर्म ही यज्ञ है। अतएव यह लोक-कल्याणकारक कर्म करते समय उसी से अपना निर्वाह होता है और करना भी चाहिए। उनका निश्चय है कि अपने स्वार्थ के लिए यज्ञ चक्र को डुबा देना अच्छा नहीं है। दासबोध में (१६.४.१०) श्रीसमर्थ रामदास स्वामी ने भी वर्णन किया है कि वह परोपकार करता ही रहता है जिसकी सबको जरूरत बनी रहती है। ऐसी दशा में उसे भूमंडल में किस बात की कमी रह सकती है? व्यवहार की दृष्टि से देखें तो भी यही ज्ञात होता है कि यह उपदेश बिलकुल यथार्थ है। सारांश, जगत् में देखा जाता है कि लोक-कल्याण में जुटे रहने वाले पुरुष का योगक्षेम कभी अटकता नहीं है। केवल परोपकार करने के लिए उसे निष्काम बुद्धि से तैयार रहना चाहिए। एक बार इस भावना के दृढ़ हो जाने पर कि सभी लोग मुझ में है और मैं सब लोगों में हूं, फिर यह प्रश्न ही नहीं हो सकता कि परार्थ स्वार्थ भिन्न है या नहीं।'मैं' पृथक और 'लोग' पृथक् इस आधिभौतिक द्वैत-बुद्धि से 'अधिकांश लोगों के अधिक सुख' करने के लिए जो प्रवृत्त होता है, उसके मन में ऊपर लिखी हुई भ्रामक शंकाएं उत्पन्न हुआ करती हैं। परन्तु जो 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस अद्वैत बुद्धि से परोपकार करने के लिए प्रवृत्त हो जाए, उसे यह शंका ही नहीं रहती। सर्वभूतात्मैक्य-बुद्धि से निष्पन्न होनेवाले सर्वभूतहित के इस आध्यात्मिक तत्त्व में, और स्वार्थ एवं परार्थरूपी द्वैत के अर्थात् अधिकाशं लोगों के सुख के तारतम्य से निकलने वाले लोक-कल्याण के आधिभौतिक तत्त्व में इतना ही भेद है, जो ध्यान देने योग्य है। साधु पुरुष मन में लोक-कल्याण करने का हेतु रखकर, लोक-कल्याण नहीं किया करते। जिस प्रकार प्रकाश फैलाना सूर्य का स्वभाव है, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान से मन में सर्वभूतात्मैक्य का पूर्ण परिचय हो जाने पर लोक-कल्याण करना तो इन साधु-पुरुषों का सहज स्वभाव हो जाता है। और ऐसा स्वभाव बन जाने पर सूर्य जैसे दूसरों का प्रकाश देता हुआ, अपने आपको प्रकाशित कर लेता है, वैसे ही साधु पुरुषों के परार्थ उद्योग से ही उनका योगक्षेम भी आप-ही-आप सिद्ध होता है। परोपकार करने के इस देह-स्वभाव और अनासक्त बुद्धि के एकत्र हो जाने पर कितने ही संकट क्यों न चले आवें, तो भी उनकी बिलकुल परवाह न कर और यह न सोचकर कि संकटों को सहना भला है, या लोक कल्याण को छोड़ देना भला है, ब्रह्मात्मैक्य बुद्धि वाले साधु पुरुष, अपना कार्य सदा जारी रखते हैं। यदि प्रसंग आ जाए तो आत्मबलि भी दे देने के लिए तैयार रहते हैं, उन्हें उसकी कुछ भी चिन्ता नहीं होती। किन्तु जो लोग स्वार्थ और परार्थ को दो भिन्न वस्तुएं समझ, उन्हें तराजू के दो पलड़ों में डाल, कांटे का झुकाव देखकर धर्म-अधर्म का निर्णय करना सीखे हुए हैं, उनकी लोक-कल्याण करने की इच्छा का इतना तीव्र हो जाना कदापि संभव नहीं है। अतएव प्राणिमात्र के हित का तत्त्व यद्यपि भगवद्गीता को सम्मत है, तथापि उसकी उपपति अधिकांश लोगों के अधिक

बाहरी सुखों के तारतम्य से नहीं लगाई है, किन्तु लोगों की संख्या अथवा उनके सुखों की न्यूनाधिकता ने विचारों को आगंतुक अतएव कृपण कहा है, तथा शुद्ध व्यवहार की मूलभूत साम्य-बुद्धि की उपपत्ति गीता में अध्यात्मशास्त्र के नित्य ब्रह्मज्ञान के आधार पर बतलाई है।

इससे दीख पड़ेगा कि प्राणिमात्र के हितार्थ उद्योग करने या लोक-कल्याण अथवा परोपकार करने की युक्तिसंगत उपपति अध्यात्म दृष्टि से क्योंकर लगती है? अब समाज में एक-दूसरे के साथ बर्तन के संबन्ध में साम्य-बुद्धि की दृष्टि से हमारे शास्त्रों में जो मूल नियम बतलाये गए हैं, उनका विचार करते हैं। यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवा भूत (बृह २.४.१४) – जिसे सर्व आत्ममय हो गया, वह साम्यबुद्धि से ही सबके साथ बरतता है, वह तत्त्व बृहदारण्यक के सिवा ईशावास्य (ईश.६) और कैवल्य (कै.१.१०) उपनिषद में तथा मनुस्मृति में भी (मनु.१२.१२.९१,१२५) है एवं इसी तत्त्व का गीता के छठे अध्याय में (गीता ६.२९) 'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मानि' के रूप में अक्षरशः उल्लेख है। सर्वभूतात्मैक्य अथवा साम्य-बुद्धि के इसी तत्त्व का रूपान्तर आत्मौपम्य दृष्टि है। क्योंकि इससे सहज ही यह अनुमान निकलता है, कि जब मैं प्राणिमात्र में हूं और मुझमें सभी प्राणी हैं, तब मैं अपने साथ जैसे बरतता हूं, वैसे ही अन्य प्राणियों के साथ भी मुझे बर्ताव करना चाहिए। अतएव भगवान ने कहा है कि इस **आत्मौपम्य दृष्टि अर्थात् समता से जो सबके साथ बरतता है, वही उत्तम कर्मयोगी स्थितप्रज्ञ है** और फिर अर्जुन को इसी प्रकार बर्ताव करने का उपदेश दिया है (गीता ६.३०-३२)। अर्जुन अधिकारी था, इस कारण गीता में इस तत्व को खोलकर समझाने की कोई जरूरत न थी। किन्तु साधारण लोगों का नीति का और धर्म का बोध कराने के लिए रचे हुए महाभारत में अनेक स्थानों पर यह बताकर (मभा. शां. २३८.२१; २६१.३३) व्यासदेव ने इसका गंभीर और व्यापक अर्थ स्पष्ट कर दिखलाया है। उदाहरण लीजिए, गीता और उपनिषदों में संक्षेप से बतलाते हुए आत्मौपम्य के इसी तत्त्व को पहले इस प्रकार समझाया है –

आत्मौपमस्तु भूतेषु यो वै भवति पुरुषः।
न्यस्तदण्डो जितक्रोधः स प्रेत्य सुखमेधते।।

जो पुरुष अपने ही समान दूसरे को मानता है, और जिसने क्रोध को जीत लिया है, वह परलोक में सुख पाता है' (मभा अनु. ११३.६)। परस्पर एक-दूसरे के साथ बर्ताव करने के वर्णन को यहीं समाप्त न करके आगे कहा है –

न तत्परस्य सन्दध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः।
एष संक्षेपतो धर्मः कामादन्यः प्रवर्तते।।

'ऐसा बर्ताव औरों के साथ न करें, कि जो स्वयं, अपने को प्रतिकूल अर्थात् दुःखकारक जंचे। यही सब धर्मों और नीतियों का सार है और बाकी सभी व्यवहार लोभमूलक है' (मभा. अनु. ११३.८) और अन्त में बृहस्पति ने युधिष्ठिर से कहा है –

प्रत्याख्याने च दाने च सुखदुःखे प्रियाप्रिये।
आत्मौपम्येन पुरुषः प्रमाणमधिगच्छति।।
यथापरः प्रक्रमते परेषु तथा परे प्रक्रमन्तेऽपरिस्मन्।

तथैव तेषूपमा जीवलोके यथा धर्मो निपुणेनोपदिष्टः।।

'सुख या दुःख, प्रिय या अप्रिय, दान अथवा निषेध– इन सब बातों को दूसरों के विषय में वैसा ही अनुमान करे, जैसा कि अपने विषय में जान पड़े। दूसरों के साथ मनुष्य जैसा बर्ताव करता है, दूसरे भी उसके साथ वैसा ही व्यवहार करते हैं। अतएव यही उपमा लेकर इस जगत् में आत्पौपम्य की दृष्टि से बर्ताव करने को सयाने लोगों ने धर्म कहा है (मभा. अनु. ११३.९, १०) 'न तत्परस्य सन्दध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः' यह श्लोक विदुर नीति में भी (मभा. उद्यो. ३८.७२) है और आगे शान्तिपर्व में (मभा. शां. १६७.९) विदुर ने फिर यही तत्त्व युधिष्ठिर को बतलाया है। परन्तु आत्मौपम्य नियम का यह एक भाग हुआ कि दूसरों को दुःख न दो, क्योंकि जो तुम्हें दुःखदायी है, वही और लोगों को भी दुःखदायी होता है। अब इस पर कदाचित् किसी को यह दीर्घ शंका हो, कि इससे यह निश्चयात्मक अनुमान कहां निकलता है कि तुम्हें जो सुखदायक जंचे, वही औरों को भी सुखदायक है, और इसलिए ऐसे ढंग का बर्ताव करो, जो औरों को भी सुखदायक हो? इस शंका के निरसनार्थ भीष्म ने युधिष्ठिर को धर्म के लक्षण बतलाते समय इससे भी अधिक स्पष्टीकरण करके इस नियम के दोनों भागों का स्पष्ट उल्लेख कर दिया है –

यदन्यैर्विहितं नेच्छोदात्मनः कर्म पुरुषः।
न तत्परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः।।
जीवितं यः स्वयं चेच्छेत्कथं सोऽन्यं प्रघातयेत्।
यद्यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिन्तयेत्।।

'हम दूसरों से अपने साथ जैसे बर्ताव का किया जाना पसन्द नहीं करते वैसा अर्थात् अपनी रुचि के प्रतिकूल बर्ताव हमें भी दूसरों के साथ न करना चाहिए। जो स्वयं जीवित रहने की इच्छा करता है, वह दूसरों को कैसे मारेगा? ऐसी इच्छा रखें कि जो हम चाहते हैं, वही और लोग भी चाहते हैं।' (मभा. शां. २५८.१९, २१) और दूसरे स्थान पर इसी नियम को बतलाते हुए इन अनुकूल अथवा प्रतिकूल विशेषणों का प्रयोग न करके किसी भी प्रकार के आचरण के विषय में विदुर ने कहा है, कि सामान्यतः –

तस्याद्धर्मप्रधानेन भवितव्यं यतात्मना।
तथा च सर्वभूतेषु वर्तितव्यं यथात्मनि।।

'इंद्रियनिग्रह करके धर्म से बरतना चाहिए और अपने समान ही सब प्राणियों से बर्ताव करे' (मभा. शां. १६७.९)। क्योंकि शुकानुप्रश्न में व्यास कहते हैं –

यवानात्मनि वेदात्मा तावानात्मा परात्मनि।
य एवं सततं वेद सोऽमृतत्तवाय कल्पते।।

'जो सदैव यह जानता है, कि अपने शरीर में जितना आत्मा है, उतना ही दूसरे के शरीर में भी है, वही अमृततत्त्व अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर लेने में समर्थ होता है' (मभा. शां. २३८.२२)। बुद्ध को आत्मा का अस्तित्त्व मान्य न था। कम-से-कम उससे यह तो स्पष्ट ही कह दिया है कि आत्मविचार की व्यर्थ उलझन में न पड़ना चाहिए। तथापि उसने भी यह बतलाते हुए कि बौद्ध भिक्षु लोग औरों के साथ

कैसा बर्ताव करें? आत्मौपम्यदृष्टि का यह उपदेश किया है –

यथा अहं तथा एते यथाएते तथा अहम् ।
अत्तानं (आत्मानं) उपमं कला (कृत्वा) न हनेय्यं न घातये ।।

'जैसे मैं, वैसे ये, जैसे ये, वैसे मैं, (इस प्रकार) अपनी-अपनी उपमा समझकर न तो (किसी को भी) मारे, और न मरवावे' (सुत्तनिपात, नालकसुत्त २७)। धम्मपद नाम के दूसरे पाली बौद्ध ग्रन्थ में भी (धम्मपद १२९, १३०) इसी श्लोक का दूसरा चरण दो बार ज्यो-का-त्यों आया है, और आगे तुरन्त ही मनुस्मृति (५.४५) एवं महाभारत (अनु. ११३.५) इन दोनों ग्रन्थों में पाये जाने वाले श्लोकों का पाली भाषा में इस प्रकार अनुवाद किया है –

सुखकामानि भूतानि यो दण्डेन विहिंसति ।
अत्तनो सुखतेसानो (इच्छन्) प्रेच्य सो न लभते सुखम् ।।

(अपने समान ही) सुख की इच्छा करने वाले दूसरे प्राणियों की जो अपने (अत्तनो) सुख के लिए दण्ड से हिंसा करता है, उसे मरने पर (पेच्य = प्रेत्य) सुख नहीं मिलता (धम्मद १३१)। आत्मा के अस्तित्त्व को न मानने पर भी आत्मौपम्य की यह भाषा जबकि बौद्ध ग्रन्थों में पाई जाती है, तब यह प्रकट ही है, कि बौद्ध ग्रन्थकारों ने ये विचार वैदिकधर्म-ग्रन्थों से लिए है ऊपर के विवेचन से स्पष्ट दीख पड़ेगा कि जिसकी 'सर्व-भूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि' ऐसी स्थिति हो गई, वह औरों से बरतते समय आत्मौपम्य बुद्धि से ही सदैव काम लिया करता है और हम प्राचीनकाल से समझते चले आ रहे हैं कि ऐसे बर्ताव का यही एक मुख्य नीतितत्त्व है। इसे कोई भी स्वीकार लिए आत्मौपम्य बुद्धि का यह 'सूत्र' अधिकांश लोगों ने अधिक हित' वाले आधिभौतिक तत्त्व की अपेक्षा अधिक अर्थपूर्ण, निर्दोष, निस्संदिग्ध, व्यापक, स्वल्प और बिलकुल अनपढ़ों की भी समझ में जल्दी आ जाने योग्य है। धर्म-अधर्मशास्त्र के इस रहस्य ('एष संक्षेपतो धर्मः) अथवा मूल तत्त्व की अध्यात्म दृष्टि से जैसी उपपत्ति लगती है, वैसी कर्म के बाहरी परिणाम पर ही नजर देने वाले अधिभौतिकवाद से नहीं लगती और इसी से धर्म-अधर्मशास्त्र के इस प्रधान नियम को उन पश्चिमी पंडितों के ग्रन्थों में प्रायः प्रमुख स्थान नहीं दिया जाता, जो आधिभौतिक दृष्टि से कर्मयोग का विचार करते हैं और तो क्या, आत्मौपत्य दृष्टि के सूत्र को ताक में रखकर ये समाज बंधन की उपपत्ति 'अधिकांश लोगों के अधिक सुख' प्रभृति केवल दृश्य तत्त्व से ही लगाने का प्रयत्न किया करते हैं। परन्तु उपनिषदों में, मनुस्मृति में, गीता में महाभारत के अन्यान्य प्रकरणों में और केवल बौद्धधर्म में ही नहीं, प्रत्युत अन्यान्य देशों एवं धर्मों में भी आत्मौपम्य के इस सरल नीति-तत्त्व को ही सर्वत्र अग्रस्थान दिया हुआ पाया जाता है। यहूदी और ईसाई धर्म-पुस्तकों में जो यह आज्ञा है कि तू अपने पड़ोसियों से अपने समान प्रीति कर (लेव्हि, १९. १५; मेथ्यू, २२.३९), वह इसी नियम का रूपान्तर है। ईसाई लोग इसे सोने का अर्थात् सोने सरीखा मूल्यवान् नियम कहते हैं; परन्तु आत्मैक्य की उपपत्ति उनके धर्म में नही है। ईसा का यह उपदेश भी आत्मौपम्य सूत्र का एक भाग है कि लोगों से तुम अपने साथ जैसा बर्ताव करना पसन्द करते हो, उनके साथ तुम्हें स्वयं भी वैसा ही बर्ताव करना चाहिए (मा. ७.१२ ल्यू ६.३१) और यूनानी तत्त्ववेता

अरिस्टॉटल के ग्रन्थ में मनुष्य के परस्पर बर्ताव करने का यही तत्त्व अक्षरशः बतलाया गया है। अरिस्टॉटल ईसा से कोई तीन सौ वर्ष पहले हो गया, परन्तु उससे भी लगभग दो सौ वर्ष पहले चीनी तत्त्ववेता खुं-फू-त्से (अंग्रेजी अपभ्रंश कनफ्यूशियस) उत्पन्न हुआ था। उसने आत्मौपम्य दृष्टि का उल्लिखित नियम चीनी भाषा की प्रणाली के अनुसार एक ही शब्द में बतला दिया है। परन्तु यह तत्त्व हमारे यहां कनफ्यूशियस से भी बहुत पहले से उपनिषदों में (ईश. ६. केन. १३) और फिर महाभारत में, गीता में है कि पराये को भी आत्मवत् मानना चाहिए (दास. १२.१०.२२) इस रीति से मराठा साधु-सन्तों के ग्रन्थों में विद्यमान् है तथा इस लोकोक्ति का भी प्रचार है कि 'आप बीती सो जग बीती।' यही नहीं, बल्कि इसकी आध्यात्मिक उपपत्ति हमारे प्राचीन शास्त्रकारों ने दे दी है। जब हम इस बात पर ध्यान देते हैं कि यद्यपि नीति धर्म का यह सर्वमान्य सूत्र वैदिक धर्म से भिन्न अन्य धर्मों में दिया गया हो, तो भी इसकी उपपत्ति नहीं बतलाई गई है। और जब हम इस बात पर भी ध्यान देते हैं कि इस सूत्र की उपपत्ति ब्रह्मात्मैक्य रूप अध्यात्म ज्ञान को छोड़ और दूसरे किसी से भी ठीक-ठीक नहीं लगती, तब गीता के आध्यात्मिक नीतिशास्त्र का अथवा कर्मयोग का महत्त्व पूरा-पूरा व्यक्त हो जाता है।

समाज में मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहार के विषय में 'आत्मौपम्य' बुद्धि का नियम इतना सुलभ, व्यापक, सुबोध और विश्वतोमुख है, कि जब एक बार वह बतला दिया कि प्राणिमात्र में रहने वाले आत्मा की एकता को पहचान कर, 'आत्मवत् सम-बुद्धि से दूसरों के साथ बरतते जाओ' तब फिर ऐसे पृथक-पृथक् उपदेश करने की जरूरत ही नहीं रह जाती कि लोगों पर दया करो, उनकी यथाशक्ति मदद करो, उनका कल्याण करो, उन्हें अभ्युदय के मार्ग में लगाओ, उनसे प्रीति करो, उनसे ममता न छोड़ो, उनके साथ न्याय और समता का बर्ताव करो, किसी को धोखा मत दो, किसी का द्रव्यहरण अथवा हिंसा न करो, किसी से झूठ न बोलो, अधिकांश लोगों के अधिक कल्याण करने की बुद्धि को मन में रखो, सदैव यह समझकर भाईचारे से बर्ताव करो कि हम सब एक ही पिता की सन्तान हैं। प्रत्येक मनुष्य को स्वभाव से यह सहज ही मालूम रहता है कि उसका अपना सुख-दुःख और कल्याण किसमें है? और सांसारिक व्यवहार करते समय गृहस्थी की व्यवस्था से इस बात का अनुभव भी उसको होता रहता है कि आत्मा वै पुत्रनामासि।' अथवा अर्धं भायवि शरीरस्य' का भाव समझकर अपने ही समान अपने स्त्री-पुत्रों से भी हमें प्रेम करना चाहिए। किन्तु घर वालों से प्रेम करना आत्मौपम्य बुद्धि सीखने का पहला ही पाठ है। सदैव इसी में न लिपटे रहकर घर वालों के बाद इष्ट मित्रों, आप्तों, गोत्रजों, ग्रामवासियों, जातिभाइयों, धर्मबन्धुओं और अन्त में सब मनुष्यों अथवा प्राणिमात्र के विषय में आत्मौपम्य बुद्धि का उपयोग करना चाहिए। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य को अपनी आत्मौपम्य बुद्धि अधिकाधिक व्यापक बनाकर पहचानना चाहिए कि जो आत्मा अपने में है, वही सब प्राणियों में है और अन्त में इसी के अनुसार बर्ताव भी करना चाहिए – यही ज्ञान की तथा आश्रम व्यवस्था की परमावधि अथवा मनुष्य मात्र के साध्य की सीमा है। आत्मौपम्य बुद्धि रूप सूत्र का अन्तिम और व्यापक अर्थ यही है। फिर आप ही आप सिद्ध हो जाता है कि इस परमावधि की स्थिति को प्राप्त कर लेने की

योग्यता जिन-जिन यज्ञदान आदि कर्मों से बढ़ती जाती है, वे सभी कर्म चित शुद्धिकारक, धर्म्य, अतएव गृहस्थाश्रम के कर्त्तव्य हैं। चित्त शुद्धि का ठीक-ठाक अर्थ स्वार्थ-बुद्धि का छूट जाना और ब्रह्मात्मैक्य को पहचानना है, एवं इसीलिए स्मृतिकारों ने गृहस्थाश्रम के कर्म विहित माने हैं। याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को जो 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' आदि उपदेश किया है, उसका मर्म भी यही है। अध्यात्म ज्ञान की नींव पर रचा हुआ कर्मयोगशास्त्र सबसे कहता है कि 'आत्मा वै पुत्रनामासि' में ही आत्मा की व्यापकता को संकुचित न करके उसकी इस स्वाभाविक व्याप्ति को पहचानो कि 'लोको वै अयमात्मा' और इस समझ से बर्ताव किया करो कि 'उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुंबकम्' – यह सारी पृथ्वी ही बड़े लोगों की घर-गृहस्थी है प्राणिमात्र ही उनका परिवार है। हमें विश्वास है कि इस विषय में हमारा कर्मयोगशास्त्र अन्यान्य देशों के पुराने अथवा नये, किसी भी कर्मयोगशास्त्र से हारने वाला नहीं है, यही नहीं तो उन सबको अपने पेट में रखकर परमेश्वर के समान 'दश अंगुल' बचा रहेगा।

इस पर भी कुछ लोग कहते हैं कि आत्मौपम्यभाव से 'वसुधैव कुटुम्बकम्' रूपी वेदान्ती और व्यापक दृष्टि हो जाने पर हम सिर्फ उन सद्‌गुणों को ही न खो बैठेंगे, जिन देशाभिमान, कुलाभिमान और धर्माभिमान आदि सद्‌गुणों से कुछ वंश अथवा राष्ट्र आजकल उन्नत अवस्था में है, प्रत्युत यदि कोई हमें मारने या कष्ट देने आवेगा, तो निर्वैर, सर्वभूतेषु (गीता ११.५५), गीता के इस वाक्यानुसार उसको दुष्ट-बुद्धि से उलटकर न मारना हमारा धर्म हो जायेगा (धम्मपद ३३८)। अतः दुष्टों का प्रतिकार न होगा और इस कारण उनके बुरे कर्मों से साधु पुरुष की जान जोखिम में पड़ जाएगी और दुष्टों का दबदबा हो जाने से पूरे समाज अथवा सारे राष्ट्र का उससे नाश भी हो जावेगा। महाभारत में स्पष्ट ही कहा है कि न पापे प्रतिपापः स्यात्साधुरेव सदा भवेत् (मभा.वन. २०६.४४) दुष्टों के साथ दुष्ट न हो जावे साधुता से बरते, क्योंकि दुष्टता से अथवा वैर निकालने से वैर कभी नष्ट नहीं होता– 'न चापि वैरं वैरेण केशव व्युपशम्यति।' इसके विपरीत जिसकी हम पराजय करते हैं, वह स्वभाव से ही दुष्ट होने के कारण पराजित होने पर और भी अधिक उपद्रव मचाता रहता है तथा वह फिर बदला लेने का मौका खोजता रहता है – 'जयो वैरं प्रसृजित।' अतएव महाभारत में स्पष्ट कहा है कि शान्ति से ही दुष्टों का निवारण कर देना चाहिए (मभा. उद्यो ७१.५६.६३)। महाभारत के यह ही श्लोक बौद्धग्रन्थों में हैं (धम्मपद ५, २०१, महावग्ग १०.२, ६३)। और ऐसे ही ईसा ने भी इसी तत्त्व का अनुवाद इस प्रकार किया है कि तू अपने शत्रुओं से प्रीति कर। (मेथ्यु. ५.४४) और कोई एक कनपटी में मारे, तो तू दूसरी भी आगे कर दे (मेथ्यू: ५.३६; ल्यू. ६.२६)। ईसामसीह से पहले के चीनी तत्त्वज्ञ ला-ओ-त्से का भी ऐसा ही कथन है और महाराष्ट्र की सन्त-मंडली में तो एकनाथ महाराज जैसे साधुओं के इस प्रकार आचरण करने की बहुतेरी कथाएं भी हैं। क्षमा अथवा शान्ति की पराकाष्ठा के उत्कर्ष दिखाने वाले इन उदाहरणों की पुनीत योग्यता को घटाने का हमारा कदापि हेतु नहीं है। इसमें कोई संदेह नहीं कि सत्य समान ही यह क्षमा-धर्म भी अन्त में अर्थात् समाज की पूर्णावस्था में – अपवादरहित और नित्यरूप से बना रहेगा। और बहुत क्या कहें, समाज की वर्तमान अपूर्णावस्था में भी अनेक अवसरों पर देखा जाता

है कि जो काम शान्ति से हो जाता है, वह क्रोध से नहीं होता। जब अर्जुन देखने लगा, कि दुष्ट दुर्योधन की सहायता करने के लिए कौन-कौन योद्धा आए हैं, तब उनमें पितामह और गुरु जैसे पूज्य मनुष्यों पर दृष्टि पड़ते ही उसके ध्यान में यह बात आ गई कि दुर्योधन की दुष्टता का प्रतिकार करने के लिए मुझे केवल कर्म ही नहीं करना पड़ेगा, अर्थासक्त गुरुजनों को शस्त्रों से मारने का दुष्कर काम भी करना पड़ेगा (गीता २.५) और इसी से वह कहने लगा कि यद्यपि दुर्योधन दुष्ट हो गया है तथापि 'न पापे प्रतिपापः स्यात' वाले न्याय से मुझे भी उसके साथ दुष्ट न हो जाना चाहिए। यदि वे मेरी जान भी ले लें, तो भी (गीता १.४६) मेरा ''निर्वैर' अन्तःकरण से चुपचाप बैठ रहना ही उचित है। अर्जुन की इस शंका को दूर भगा देने के लिए ही गीताशास्त्र की प्रवृत्ति हुई है, और यही कारण है कि गीता में इस विषय का जैसा स्पष्टीकरण किया गया है वैसा और किसी भी धर्मग्रन्थ में नहीं पाया जाता। उदाहरणार्थ– बौद्ध और ईसाई धर्म निर्वैरत्व के तत्त्व को वैदिकधर्म के समान ही स्वीकार तो करते हैं– परन्तु उनके धर्म-ग्रन्थों में यह बात स्पष्टतया कहीं भी नहीं बतलाई है कि लोक संग्रह की अथवा आत्मसंरक्षण की भी चिन्ता न करने वाले सर्व कर्मत्यागी संन्यासी पुरुष का व्यवहार और बुद्धि के अनासक्त एवं निर्वैर हो जाने पर भी उसी अनासक्त और निर्वैर बुद्धि के सारे बर्ताव करने वाले कर्मयोगी का व्यवहार, ये दोनों सर्वांश में एक नहीं हो सकते। इसके विपरीत पश्चिमी नीतिशास्त्रवेत्ताओं के आगे यह समस्या है कि ईसा ने जो उपरोक्त निर्वैरत्व का उपदेश किया है, उसका जगत् की नीति से समुचित मेल कैसे मिलायें?'' और नित्शे नामक आधुनिक जर्मन पंडित ने जो अपने ग्रंथों में यह मत लिखा है कि निर्वैरत्व का यह धर्मतत्त्व गुलामी का और घातक है एवं इसी को श्रेष्ठ मानने वाले ईसाई धर्म ने यूरोप खंड को नामर्द कर डाला है। परन्तु हमारे धर्मग्रन्थों को देखने से ज्ञात होगा कि न केवल गीता को प्रत्युत मनु को भी यह बात पूर्णतया अवगत और सम्मत थी कि संन्यास और कर्मयोग इन दोनों धर्म-मार्गों से इस विषय में भेद करना चाहिए। क्योंकि मनु ने यह नियम, 'क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येत्' क्रोधित होने वाले पर फिर क्रोध न करो (मनु. ६.४८), न गृहस्थधर्म में बतलाया है और न राजधर्म में बतलाया है केवल यतिधर्म में ही। परन्तु आजकल टीकाकार इस बात पर ध्यान नहीं देते कि इन वचनों में से कौन वचन किस मार्ग का है अथवा उसका कहां उपयोग करना चाहिए? उन लोगों ने संन्यास और कर्मयोग इन दोनों मार्गों के परस्पर विरोधी सिद्धान्तों को गड्डमड्ड कर एकत्र कर डालने की जो प्रणाली अपनाई है, उस प्रणाली से प्रायः कर्मयोग के सच्चे सिद्धान्तों के संबन्ध में कैसे भ्रम उत्पन्न हो जाता है। गीता के टीकाकारों की इस भ्रामक पद्धति को छोड़ देने से सहज ही ज्ञात हो जाता है कि भागवतधर्मी कर्मयोगी गृहस्थ को कैसे बर्ताव करना चाहिए, उसके विषय में परम भगवद्भक्त प्रह्लाद ने कहा है कि 'तस्मान्नित्यं क्षमा तात पंडितैरपवादिता' (मभा. वन. २८.८) – हे तात्! इसी हेतु चतुर पुरुषों ने क्षमा के लिए सदा अपवाद बतलाये हैं। जो कर्म हमें दुःखदायी हो, वही कर्म करके दूसरों को दुःख न देने का, आत्मौपम्य दृष्टि का सामान्य धर्म है तो ठीक

परन्तु महाभारत में निर्णय किया गया है कि जिस समाज में इसी आत्मौपम्य दृष्टि वाले सामान्य धर्म की पड़ताल के इस दूसरे धर्म के कि हमें भी दूसरे लोग दुःख न दें, पालने वाले न हों, उस समाज में किसी एक के इस धर्म को पालने से कोई लाभ न होगा। यह समता शब्द ही दो व्यक्तियों से सम्बद्ध अर्थात् सापेक्ष है। अतएव **आततायी पुरुष को मार डालने से जैसे अहिंसा धर्म में बट्टा नहीं लगता, वैसे ही दुष्टों को उचित शासन कर देने से साधुओ की आत्मौपम्य बुद्धि या निर्वैरता में भी कुछ न्यूनता नहीं आती बल्कि दुष्टों के अन्याय का प्रतिकार कर दूसरों को बचा लेने का श्रेय अवश्य मिल जाता है। जिस परमेश्वर की अपेक्षा किसी की भी बुद्धि अधिक सम नहीं है। वह परमेश्वर जब साधुओं की रक्षा और दुष्टों का विनाश करने के लिए समय-समय पर अवतार लेकर लोक-संग्रह किया करता है (गीता ४.७, ८) तब और पुरुषों की तो बात ही क्या है। यह कहना भ्रममूलक है कि 'वसुधैव कुटुम्बकम्' रूपी दृष्टि हो जाने से अथवा फलाशा छोड़ देने से पात्रता-अपात्रता अथवा योग्यता-अयोग्यता का भेद भी मिट जाना चाहिए। गीता का सिद्धान्त यह है कि फल की आशा में ममत्व बुद्धि प्रधान होती है। और उसे छोड़े बिना पाप-पुण्य से छुटकारा नहीं मिलता। किन्तु यदि किसी सिद्धपुरुष को अपना स्वार्थ साधने की आवश्यकता न हो, तथापि यदि वह किसी अयोग्य आदमी को कोई ऐसी वस्तु ले लेने दे, जो उसके योग्य नहीं, तो उस सिद्धपुरुष को अयोग्य आदमियों की सहायता करने का तथा योग्य साधुओं एवं समाज की भी हानि करने का पाप लगे बिना न रहेगा।** कुबेर से टक्कर लेने वाला करोड़पति साहूकार यदि बाजार में तरकारी लेने जावे, तो जिस प्रकार वह हरी धनियां की गड्डी की कीमत लाख रुपये नहीं दे देता, उसी प्रकार पूर्ण साम्यावस्था में पहुंचा हुआ पुरुष किसी की पात्रता-अपात्रता का तारत्म्य भूल नहीं जाता। उसकी बुद्धि सम तो रहती है पर समता का यह अर्थ नहीं है कि गाय का चारा मनुष्य को और मनुष्य का भोजन गाय को खिला दे तथा भगवान ने गीता (गीता १७.२०) में भी कहा है कि 'दातव्य' समझकर जो सात्त्विक दान करता है उसे भी इसी 'देशे काले च पात्रे च' अर्थात् देश काल और पात्र का विचार कर देना चाहिए। साधु पुरुषों की साम्य बुद्धि के वर्णन में ज्ञानेश्वर महाराज ने उन्हें पृथ्वी की उपमा दी है। इसी पृथ्वी का दूसरा नाम सर्वंसहा है, किन्तु यह सर्वंसहा भी, यदि इसे कोई लात मारे, तो मारने वाले के तलवे में उतने ही जोर का प्रत्याघात कर अपनी समता बुद्धि व्यक्त कर देती है। इससे भली-भान्ति समझा जा सकता है, कि मन में वैर न रहने पर भी (अर्थात् निर्वैर) प्रतिकार कैसे किया जाता है? इसी कारण से भगवान भी 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (गीता ४.११) – जो मुझे जैसे भजते हैं उन्हें वैसे ही फल देता हूं– इस प्रकार व्यवहार तो करते हैं, परन्तु फिर भी 'वैषम्य-नैर्घृण्य' दोषों से अलिप्त रहते हैं। इसी प्रकार व्यवहार अथवा कानून कायदे में भी खूनी आदमी को फांसी की सजा देने वाले न्यायाधीश को, कोई उसका दुश्मन नहीं कहता। अध्यात्मशास्त्र का सिद्धान्त है कि जब किसी की बुद्धि निष्काम होकर साम्यावस्था में पहुंच जावे, तब वह मनुष्य अपनी इच्छा से किसी दूसरे का नुकसान नहीं करता, उससे यदि किसी दूसरे का नुकसान हो भी जाए, तो समझना चाहिए कि वह दूसरे के कर्म का फल है अथवा निष्काम बुद्धि वाला स्थितप्रज्ञ ऐसे समय पर जो काम करता है, देखने में वह मातृ-वध या गुरु-वध-सरीखा कितना ही भंयकर क्यों न हो – उसके शुभ-अशुभ फल का बंन्धन अथवा लेप

उसको नहीं लगता (गीता- ४.१४; ६.२८, १८.१७)। फौजदारी कानून में आत्मसंरक्षा के जो नियम हैं वे इसी तत्त्व पर रचे गए हैं। कहते हैं कि जब लोगों ने मनु से राजा होने की प्रार्थना की, तब उन्होंने पहले यह उत्तर दिया, कि अनाचार से चलने वालों का शासन करने के लिए राज्य को स्वीकार करके मैं पाप में नहीं पड़ना चाहता। परन्तु जब लोगों ने यह वचन दिया कि 'तमब्रुवन् प्रजाः मा भीः कृर्तनेनो गमिष्यति' (मभा. शां. ६७.२३) डरिये नहीं, जिसका पाप उसी को लगेगा, आपको तो रक्षा करने का पुण्य ही मिलेगा और प्रतिज्ञा की कि प्रजा की रक्षा करने में जो खर्च लगेगा, उसे हम लोग कर देकर पूरा करेंगे, तब मनु ने प्रथम राजा होना स्वीकार किया। सारांश जैसे अचेतन सृष्टि का कभी न बदलने वाला यह नियम है कि 'आघात के बराबर ही प्रत्याघात' हुआ करता है, वैसे ही सचेतन सृष्टि में उस नियम का रूपान्तर है कि 'जैसे को तैसा' होना चाहिए। वे साधारण लोग कि जिनकी बुद्धि साम्यावस्था में नहीं पहुंची है, इस कर्मविपाक के नियम के विषय में अपनी ममत्व बुद्धि उत्पन्न कर लेते हैं और क्रोध से अथवा द्वेष से आघात की अपेक्षा अधिक प्रत्याघात करके आघात का बदला लिया करते हैं, अथवा अपने से दुबले मनुष्य के साधारण या काल्पनिक अपराध के लिए प्रतिकार बुद्धि के निमित्त से उसको लूटकर अपना फायदा कर लेने के लिए सदा प्रवृत्त होते हैं। किन्तु साधारण मनुष्यों के समान बदला लेने की, वैर की , अभिमान की, क्रोध से, लोभ से या द्वेष से दुर्बलों को लूटने की अथवा टेक से अपने अभिमान, शेखी, सत्ता और शक्ति की प्रदर्शनी दिखलाने की बुद्धि जिसके मन में न रहे, उसकी शान्त, निर्वैर और सम बुद्धि वैसे ही नहीं बिड़गती है जैसे कि अपने ऊपर गिरी हुई गेंद को सिर्फ पीछे लौटा देने से बुद्धि में कोई भी विकार नहीं उपजता, और लोक संग्रह की दृष्टि से ऐसे प्रत्याघातस्वरूप कर्म करना उसका अर्थ अर्थात् कर्तव्य हो जाता है कि जिससे दुष्टों का दबदबा बढ़कर कहीं गरीबों पर अत्याचार न होने पावे (गीता ३.२५)। गीता के सारे उपदेश का सार यही है कि ऐसे प्रसंग पर सम बुद्धि से किया हुआ घोर युद्ध भी धर्म्य और श्रेयस्कर है। वैरभाव न रखकर सबसे बरतना, दुष्टों के साथ दुष्ट न बन जाना, क्रोध करने वाले पर क्रुद्ध न होना आदि धर्मतत्त्व स्थितप्रज्ञ कर्मयोगी को मान्य तो हैं ही; परन्तु संन्यास मार्ग का यह मत कर्मयोग नहीं मानता कि 'निर्वैर' शब्द का अर्थ केवल निष्क्रिय अथवा प्रतिकारशून्य है, किन्तु वह निर्वैर शब्द का सिर्फ इतना ही अर्थ मानता है, कि वैर अर्थात् मन की दुष्ट बुद्धि छोड़ देनी चाहिए और जबकि कर्म किसी से छूटते हैं ही नहीं, तब उसका कथन है कि सिर्फ लोक-संग्रह के लिए अथवा प्रतिकारार्थ जितने कर्म आवश्यक और शक्य हों, उतने कर्म मन में दुष्ट बुद्धि को स्थान न देकर, केवल कर्तव्य समझ, वैराग्य और निःसंग बुद्धि से करते रहना चाहिए (गीता ३.१९)। अतः इस श्लोक में (गीता ११.५५) सिर्फ 'निर्वैर' पद का प्रयोग न करते हुए –

मत्कर्मकृत् मत्परमो मद्‌भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पांडव।।

उसके पूर्व इस दूसरे महत्त्व का विशेषण का भी प्रयोग करके कि 'मत्कर्मकृत्' अर्थात् 'मेरे

यानी परमेश्वर के प्रीत्यर्थ अर्थात् परमेश्वरार्पण बुद्धि के सारे कर्म करने वाला' भगवान ने गीता में निर्वैरत्व और निष्काम कर्म का, भक्ति की दृष्टि से, मेल मिला दिया है। इसी से शांकरभाष्य तथा अन्य टीकाओं में भी कहा है कि इस श्लोक में पूरे गीताशास्त्र का निचोड़ आ गया है। गीता में यह कहीं भी नहीं बतलाया कि बुद्धि को निर्वैर करने के लिए उसके निर्वैर हो चुकने पर भी, सभी प्रकार के कर्म छोड़ देने चाहिए। इस प्रकार प्रतिकार का कर्म निर्वैरत्व और परमेश्वरार्पण बुद्धि से करने पर कर्ता को उसका कोई भी पाप या दोष तो लगता ही नहीं उलटे प्रतिकार का काम हो चुकने पर, जिन दुष्टों का प्रतिकार किया गया है, उन्हीं का आत्मौपम्य दृष्टि से कल्याण करने की बुद्धि भी मन से नष्ट नहीं होती। एक उदाहरण लीजिए – दुष्ट कर्म के कारण रावण को, निर्वैर और निष्पाप रामचन्द्र ने युद्ध में मार तो डाला, पर उसकी उत्तरक्रिया करने में जब विभीषण हिचकने लगा, तब रामचन्द्र ने उसको समझाया कि –

मरणान्तानि वैराणि निवृत्तं नः प्रयोजनम्।
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव।।

(रावण के मन का) वैर मरण के साथ ही चुक गया। हमारा (दुष्टों का नाश करने का) काम हो चुका। अब यह जैसा तेरा (भाई) है, वैसा ही मेरा भी है। इसलिए इसका अग्निसंस्कार कर (वाल्मीकि रा. ६.१०९.२५) रामायण का यह तत्त्व भागवत में भी (भाग. ८.१९.१३) एक स्थान पर बतलाया गया है और अन्यान्य पुराणों में जो ये कथाएं हैं कि भगवान ने जिन दुष्टों का संहार किया, उन्हीं को फिर दयालु होकर सद्गति दे डाली, उनका रहस्य भी यही है। इन्हीं सब विचारों को मन में लाकर श्रीसमर्थ रामदास स्वामी ने कहा है कि 'उद्धत के लिए उद्धत होना चाहिए।' और महाभारत में भीष्म ने परशुराम से कहा है –

यो यथा वर्तते यस्मिन् तस्मिन्नेवं प्रवर्तयन्।
नाधर्म समवाप्नोति न चाश्रेयश्च विन्दति।।

अपने साथ जो जैसा बर्ताव करता है, उसके साथ वैसे ही बर्तन से न तो अधर्म (अनीति) होता है और न अकल्याण भी (मभा. उद्यो. १७९.३०)। फिर आगे चलकर शान्तिपर्व के सत्यानृत अध्याय में फिर वही उपदेश युधिष्ठिर को किया है –

यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यः तस्मिन् तथा वर्तितव्यं स धर्मः।
मायाचारो मायया बाधितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः।।

अपने साथ जो जैसा बर्ताव है, उसके साथ वैसा ही बर्ताव करना धर्मनीति है। मायावी पुरुष के साथ मायावीपन से और साधु पुरुष के साथ साधुता का व्यवहार करना चाहिए (मभा. शां. १०९. २९, उद्यो. ३६.७)। ऐसे ही ऋग्वेद में इन्द्र को उसके मायावीपन का दोष न देकर उसकी स्तुति ही की गई है कि – 'त्वं मायाभिरनवद्य मायिनं ... वृत्तं अर्दयः।' (ऋ. १०.१४७.२; १.८०.७) हे निष्पाप इन्द्र! मायावी वृत्र को तूने माया से मारा है। भारवि कवि ने अपने 'किरातार्जुनीय' काव्य में भी ऋग्वेद के तत्त्व का ही अनुवाद इस प्रकार किया है –

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं।
भवन्ति मायाविषु ये न मायनिः।।

मायावियों के साथ जो मायावी नहीं बनते, वे नष्ट हो जाते हैं (किरा. १.३०)। परन्तु यहां और एक बात पर ध्यान देना चाहिए, कि दुष्ट पुरुष का प्रतिकार यदि साधुता से हो सकता हो, तो पहले साधुता से ही करें। क्योंकि दूसरा यदि दुष्ट हो जाए तो उसके साथ हमें भी दुष्ट न हो जाना चाहिए, कोई एक यदि नकटा हो जाए तो सारा गांव का गांव अपनी नाक नहीं कटा लेता और क्या कहें, यह धर्म है भी नहीं। इस 'न पापे प्रतिपापः स्यात्' सूत्र का ठीक भावार्थ यही है, और इसी कारण से विदुर नीति में धृतराष्ट्र को पहले यही नीतितत्त्व बतलाया गया है कि 'न तत्परस्य सन्दध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः' जो व्यवहार स्वयं अपने लिए प्रतिकूल मालूम हो, वैसा बर्ताव दूसरों के साथ न करे। इसके पश्चात् ही विदुर ने कहा है –

अक्रोधेन जयेत्क्रोधं असाधुं साधुना जयेत्।
जयेत्कदर्यं दानेन जयेत् सत्येन चानृतम्।।

(दूसरे को) क्रोध को (अपनी) शान्ति से जीते। दुष्ट को साधुता से जीते। कृपण को दान से जीते, और अनृत को सत्य से जीते (मभा. उद्यो. ३८.७३, ७४)। पाली भाषा में बौद्धों का जो 'धम्मपद' नामक नीतिग्रन्थ है, उसमें (धम्म २३३) इसी श्लोक का ज्यों का त्यों अनुवाद है –

अक्कोधेन जिने कोधं असाधुं साधुना जिने।
जिने कदरियं दानेन सच्चेनालीकवादिनम्।।

शान्तिपर्व में युधिष्ठिर को उपदेश करते हुए भीष्म ने भी इसी–तत्त्व के गौरव का वर्णन इस प्रकार किया है –

कर्म चैतदसाधूनां असाधु साधुना जयेत्।
धर्मेण निधनं श्रेयो न जयः पापकर्मणा।।

दुष्ट की असाधुता अर्थात् दुष्ट कर्म का साधुता से निवारण करना चाहिए। क्योंकि पापकर्म से प्राप्त जीत की अपेक्षा धर्म से अर्थात् नीति से मर जाना भी श्रेयस्कर है' (मभा. १६.१६) किन्तु ऐसी साधुता से यदि दुष्ट से दुष्कर्मों का निवारण न होता हो, अथवा साम उपचार और मेल-जोल की बात इन दुष्टों को नापसंद हो, तो 'कण्ट-केनैत्र कण्टकम्' के न्याय से जो कांटा इन पुल्टिस से बाहर न निकलता हो, उसको साधारण कांटे से अथवा लोहे के कांटे (सुई) से ही बाहर निकाल डालना आवश्यक है (दास. १९.९.१२-३१)। क्योंकि, प्रत्येक समय लोक-संग्रह के लिए दुष्टों का निग्रह करना, भगवान् के समान, साधु-पुरुषों का भी धर्म की दृष्टि से पहला कर्तव्य है। साधुता से दुष्टता को जीते इस वाक्य में ही पहले यही बात मानी गई है कि दुष्टता को जीत लेना अथवा उसका निवारण करना साधु पुरुष का पहला कर्तव्य है। फिर उसकी सिद्धि के लिए बतलाया है कि पहले किस उपाय की योजना करे। यदि साधुता से उसका निवारण न हो सकता हो – सीधी अंगुली से घी न निकले – तो 'जैसे को तैसे' बनकर दुष्टता का निवारण करने में से हमें हमारे धर्म-ग्रन्थकार कभी भी नहीं रोकते। वे

यह कहीं भी प्रतिपादन नहीं करते, कि दुष्टता के आगे साधु पुरुष अपना बलिदान खुशी से किया करें। सदा ध्यान रहे, कि जो पुरुष अपने बुरे कर्मों से पराई गर्दनें काटने पर उतारू हो गया, उसे यह कहने का कोई भी नैतिक हक नहीं रह जाता कि और लोग मेरे साथ साधुता का बर्ताव करें। धर्मशास्त्र में स्पष्ट आज्ञा है (मनु. ८.१६, ३५१) कि इस प्रकार जब साधु पुरुषों को कोई असाधु काम लाचारी से करना पड़े तो उसकी जिम्मेदारी शुद्ध बुद्धि वाले साधु पुरुषों पर नहीं रहती, किन्तु उसका जिम्मेदार वही दुष्ट पुरुष हो जाता है, जिसके दुष्ट कर्मों का ही वह नतीजा है। स्वयं बुद्ध ने देवदत्त का शासन किया, उसकी उपपति बौद्ध ग्रन्थकारों ने भी इसी तत्त्व पर लगाई है (मिलिंद प्र. ४.१.३०-३४)। जड़ सृष्टि के व्यवहार में ये आघात-प्रत्याघातरूपी कर्म नित्य और बिलकुल ठीक होते हैं। परन्तु मनुष्य के व्यवहार उसके इच्छाधीन हैं। धर्मज्ञान अत्यन्त सूक्ष्म है। इस कारण विशेष अवसर पर बड़े-बड़े लोग भी सचमुच इस दुविधा में पड़ जाते हैं कि जो हम करना चाहते हैं, वह योग्य है या अयोग्य? अथवा धर्म्य हे या अधर्म्य? 'किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः' (गीता ४.१६)। ऐसे अवसर पर कोई कोरे विद्वान किन्तु सदैव थोड़े बहुत स्वार्थ के पंजे में फंसे हुए पुरुषों की पंडिताई पर या केवल अपने सार-असार विचार के भरोसे पर ही कोई काम न कर बैठे, बल्कि पूर्ण साम्यावस्था में पहुंचे हुए परमावधि के साधु-पुरुष की शुद्ध बुद्धि की ही शरण में जा सके, उसी गुरु के निर्णय को प्रमाण माने। क्योंकि निरा तार्किक पांडित्य जितना अधिक होगा, युक्तियां भी उतनी ही अधिक निकलेंगी। इसी कारण बिना शुद्ध बुद्धि के कोरे पांडित्य से ऐसे विकट प्रश्नों का कभी सच्चा और समाधानकारक निर्णय नहीं होने पाता, अतएव उसको शुद्ध और निष्काम बुद्धि वाला गुरु ही करना चाहिए। जो शास्त्रकार अत्यन्त सर्वसाम्य हो चुके हैं, उनकी बुद्धि इस प्रकार की शुद्ध रहती है और यही कारण है जो भगवान ने अर्जुन से कहा है – 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ' (गीता १६.२४) – कार्य-अकार्य का निर्णय करने में तुझे शास्त्र को प्रमाण मानना चाहिए। तथापि यह न भूल जाना चाहिए कि कालमान के अनुसार श्वेतकेतु जैसे आगे के साधु पुरुषों को इन शास्त्रों में भी फर्क करने का अधिकार प्राप्त होता रहता है।

निर्वैर और शान्त साधु पुरुषों के आचरण के संबन्ध में लोगों की आजकल जो गैर समझ देखी जाती है, उसका कारण यह है कि कर्मयोग प्रायः लुप्त हो गया है और सारे संसार ही को त्याज्य मानने वाले संन्यास-मार्ग का चारों ओर दौर-दौरा हो गया है। गीता का यह उपदेश अथवा उद्देश्य भी नहीं है कि निर्वैर होने से निष्प्रतिकार भी होना चाहिए। जिसे लोक-संग्रह की चिन्ता ही नहीं है, उसे जगत् में दुष्टों की प्रबलता फैले तो – और न फैले तो – करना ही क्या है? उसकी जान रहे, चाहे चली जाय, सब एक ही सा है। किन्तु पूर्णावस्था में पहुंचे हुए कर्मयोगी प्राणिमात्र में आत्मा की एकता को पहचानकर यद्यपि सभी के साथ निर्वैरता का व्यवहार किया करते हैं, तथापि अनासक्त बुद्धि से पात्रता-अपात्रता का सार-असार विचार करके स्वधर्मानुसार प्राप्त हुए कर्म करने में वे कभी नहीं चूकते, और कर्मयोग कहता है कि इस रीति से किए हुए कर्म कर्ता की साम्य-बुद्धि में कुछ न्यूनता नहीं

आने देते। गीताधर्म प्रतिपादित कर्मयोग के इस तत्त्व को मान लेने पर कुलाभिमान और देशाभिमान आदि कर्तव्य-धर्मों की भी कर्मयोगशास्त्र के अनुसार योग्य उपपत्ति लगाई जा सकती है। यद्यपि यह अन्तिम सिद्धान्त है कि समग्र मानव-जाति का, प्राणिमात्र का, जिससे हित होता हो, वही धर्म है, तथापि परमावधि की इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए कुलाभिमान, धर्माभिमान और देशाभिमान आदि चढ़ती हुई सीढ़ियों की आवश्यकता तो कभी भी नष्ट होने की नहीं। निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति के लिए जिस प्रकार सगुणोपासना आवश्यक है उसी प्रकार - 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की ऐसी बुद्धि पाने के लिए कुलाभिमान, जात्याभिमान, धर्माभिमान और देशाभिमान आदि की आवश्यकता है एवं समाज की प्रत्येक सीढ़ी इसी जीने से ऊपर चढ़ती है, इस कारण इसी जीने को सदैव ही स्थिर रखना पड़ता है। ऐसे ही जब अपने आस-पास के लोग अथवा अन्य राष्ट्र नीचे की सीढ़ी पर बना रहे, तो वह कदापि सिद्ध हो नहीं सकता। क्योंकि ऊपर कहा ही जा चुका है, कि परस्पर व्यवहार में 'जैसे को तैसे' न्याय से ऊपर-ऊपर की श्रेणी वालों को नीचे-नीचे की श्रेणी वाले लोगों के अन्याय का प्रतिकार करना विशेष प्रसंग पर आवश्यक रहता है। इसमें कोई शंका नहीं कि सुधरते-सुधारते जगत् के सभी मनुष्यों की स्थिति एक दिन ऐसी जरूर हो जावेगी कि वे प्राणिमात्र में आत्मा की एकता को पहचानने लगें। अन्ततः मनुष्यमात्र को ऐसी स्थिति प्राप्त कर देने की आशा रखना कुछ अनुचित भी नहीं है। परन्तु यह न्यायतः ही सिद्ध है कि आत्मोन्नति की परमावधि की यह स्थिति जब तक सबको प्राप्त हो नहीं गई है, तब तक अन्यान्य राष्ट्रों अथवा समाजों की स्थिति पर ध्यान देकर साधु पुरुष अपने समाजों को उन-उन समयों में श्रेयस्कर देशाभिमान आदि धर्मों का ही उपदेश देते रहें। इसके अतिरिक्त इस दूसरी बात पर भी ध्यान देना चाहिए कि मंजिल-दर-मंजिल तैयार करके, इमारत बन जाने पर, जिस प्रकार नीचे के हिस्से निकाल डाले नहीं जा सकते अथवा जिस प्रकार तलवार हाथ में आ जाने से कुदाली की, या सूर्य होने से, अग्नि की भी आवश्यकता बनी ही रहती है, उसी प्रकार सर्वभूतहित की अन्तिम सीमा तक पहुंच जाने पर भी न केवल देशाभिमान की ही, वरन् कुलाभिमान की भी आवश्यकता बनी ही रहती है। क्योंकि समाज-सुधार की दृष्टि से देखें तो कुलाभिमान जो विशेष काम करता है, वह निरे देशाभिमान से नहीं होता, और देशाभिमान का कार्य निरी सर्वभूतात्मैक्य-दृष्टि से सिद्ध नहीं होता। अर्थात् समाज की पूर्णावस्था में भी साम्यबुद्धि के ही समान देशाभिमान और कुलाभिमान आदि धर्मों की भी सदैव जरूरत रहती ही है। किन्तु केवल अपने ही देश के अभिमान को परम साध्य मान लेने से जैसे एक राष्ट्र अपने लाभ के लिए दूसरे राष्ट्र का मनमाना नुकसान करने के लिए तैयार रहता है वैसी बात सर्वभूतहित को परम साध्य मानने से नहीं होती। कुलाभिमान, देशाभिमान और अन्त में पूरी मनुष्यजाति के हित में यदि विरोध आने लगे, तो साम्यबुद्धि से परिपूर्ण नीतिधर्म का यह महत्त्वपूर्ण और विशेष कथन है, कि उच्च श्रेणी के धर्मों की सिद्धि के लिए निम्न श्रेणी के धर्मों को छोड़ दे। विदुर ने धृतराष्ट्र को उपदेश करते हुए कहा है कि युद्ध में कुल का क्षय हो जावेगा, अतः दुर्योधन के हठ के लिए पांडवों को राज्य का भाग न देने की अपेक्षा यदि दुर्योधन न माने तो (अपना लड़का भले ही हो)–

उसे अकेले को छोड़ देना ही उचित है और इस समर्थन में यह श्लोक कहा है –

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ।।

कुल के (बचाव के) लिए एक व्यक्ति को, गांव के लिए कुल को और पूरे लोक-समूह के लिए गांव को एवं आत्मा के लिए पृथ्वी को छोड़ दें (मभा. आदि, ११५.२६, सभा ६१.११)। इस श्लोक के पहले तीन चरणों का तात्पर्य वही है कि जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है और चौथे चरण में आत्मरक्षा का तत्त्व बतलाया गया है। 'आत्म' शब्द सामाय सर्वनाम है इससे यह आत्मरक्षा का तत्त्व जैसे एक व्यक्ति को उपयुक्त होता है वैसे ही एकत्रित लोकसमूह को, जाति को, देश को अथवा राष्ट्र को भी उपयुक्त होता है और कुल के लिए एक पुरुष को, ग्राम के लिए कुल को एवं देश के लिए ग्राम को छोड़ देने की क्रमशः चढ़ती हुई इस प्राचीन प्रणाली पर जब हम ध्यान देते है, तब स्पष्ट दीख पड़ता है कि आत्म शब्द का अर्थ इन सबकी अपेक्षा इस स्थल पर अधिक महत्त्व का है। फिर भी कुछ स्वार्थी या शास्त्र न जानने वाले लोग इस चरण का कभी-कभी विपरीत अर्थात् निरा स्वार्थप्रधान अर्थ किया करते हैं। अतएव यहां कह देना चाहिए कि आत्मरक्षा का यह तत्त्व स्वार्थपरायणता नहीं है। क्योंकि जिन शास्त्रकारों ने निरे स्वार्थसाधु चार्वाक-पंथ का राक्षसी बतलाया है (गीता अ. १६), संभव नहीं है कि वे ही स्वार्थ के लिए किसी से भी जगत् को डुबाने के लिए कहें। ऊपर के श्लोक में 'अर्थे' शब्द का अर्थ सिर्फ स्वार्थ प्रधान नहीं है, किन्तु 'संकट आने पर उनके निवारणार्थ' ऐसा करना चाहिए और कोशकारों ने भी यही अर्थ किया है। स्वार्थपरायणता और आत्मरक्षा में बड़ा भारी अन्तर है। कामोपभोग की इच्छा अथवा लोभ में अपना स्वार्थ साधने के लिए दुनिया का नुकसान करना स्वार्थपरायणता है। यह अमानुषी और निंद्य है। उक्त श्लोक के प्रथम तीन चरणों में कहा है कि एक के हित की अपेक्षा अनेक के हित पर सदैव ध्यान देना चाहिए। तथापि प्राणिमात्र में एक ही आत्मा के रहने के कारण प्रत्येक मनुष्य को इस जगत् में सुख में रहने का एक ही सा नैसर्गिक अधिकार है। और इस सर्वमान्य महत्त्व के नैसर्गिक स्वत्व की ओर दुर्लक्ष्य कर जगत् के किसी भी एक व्यक्ति की या समाज की हानि करने का अधिकार, दूसरे किसी व्यक्ति या समाज को नीति की दृष्टि से कदापि प्राप्त नहीं हो सकता, फिर चाहे वह समाज बल और संख्या में कितना ही चढ़ा-बढ़ा क्यों न हो अथवा उसके पास छीना-झपटी करने के साधन दूसरों से अधिक क्यों न हो। यदि कोई इस युक्ति का अवलंबन करे कि एक की अपेक्षा अथवा थोड़ों की अपेक्षा बहुतों का हित अधिक योग्यता का है। और इस युक्ति से संख्या में अधिक बढ़े हुए समाज के स्वार्थी बर्ताव का समर्थन करे, तो यह युक्तिवाद केवल राक्षसी समझा जावेगा। इस प्रकार दूसरे लोग यदि अन्याय से बतरने लगे, तो बहुतेरों के तो क्या, सारी पृथ्वी के हित की अपेक्षा भी आत्मरक्षा अर्थात् अपने बचाव का नैतिक अधिकार और भी अधिक सबल हो जाता है, यही उक्त चौथे चरण का भावार्थ है और पहले तीन चरणों में जिस अर्थ का वर्णन है, उसके लिए महत्त्वपूर्ण अपवाद के नाते उसे साथ ही बतला दिया है। इसके सिवा यह भी देखना चाहिए कि

यदि हम स्वयं जीवित रहेंगे तो लोक-कल्याण कर सकेंगे। अतएव लोकहित की दृष्टि से विचार करें, तो भी विश्वामित्र के समान यही कहना पड़ता है कि 'जीवन् धर्ममवाप्नुयात्' जीयेंगे तो धर्म करेंगे अथवा कालिदास के अनुसार यही कहना पड़ता है कि 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' (कुमा. ५.३३) – शरीर ही सब धर्मों का मूलभूत साधन है या मनु के कथनानुसार कहना पड़ता है कि 'आत्मानं सततं रक्षेत्' स्वयं अपनी रक्षा सदा-सर्वदा करनी चाहिए। यद्यपि आत्मरक्षा का अधिकार सारे जगत् के हित की अपेक्षा इस प्रकार श्रेष्ठ है, तथापि कई अवसरों पर कुल के लिए, देश के लिए, धर्म के लिए अथवा परोपकार के लिए स्वयं अपनी ही इच्छा से साधु लोग अपनी जान पर खेल जाते हैं। उक्त श्लोक के पहले तीन चरणों में यही तत्त्व वर्णित है। ऐसे प्रसंग पर मनुष्य आत्मरक्षा के अपने श्रेष्ठ स्वत्व पर भी स्वेच्छा से पानी फेर दिया करता है, अतः ऐसे काम की नैतिक योग्यता भी सबसे श्रेष्ठ समझी जाती है। तथापि इस बात का अचूक निश्चय कर देने के लिए कि ऐसे अवसर कब उत्पन्न होते हैं, निरा पांडित्य या तर्क शक्ति पूर्ण समर्थ नहीं है। इसलिए धृतराष्ट्र के कथानक से यह बात प्रकट होती है कि विचार करने वाले मनुष्य का अंतःकरण पहले से ही शुद्ध और सम रहना चाहिए। महाभारत में कहा है कि धृतराष्ट्र की बुद्धि इतनी मंद न थी कि वे विदुर के उपदेश को समझ न सकें, परन्तु पुत्र प्रेम उनकी बुद्धि को सम होने कहां देता था? कुबेर को जिस प्रकार लाख रुपये की कभी कमी नहीं पड़ती, उसी प्रकार जिसकी बुद्धि एक बार सम हो चुकी, उसे कुलात्मैक्य, देशात्मैक्य या धर्मात्मैक्य आदि निम्न श्रेणी की एकताओं का कभी टोटा पड़ता ही नहीं है। ब्रह्मात्मैक्य में इन सबका अन्तर्भाव हो जाता है। फिर देश-धर्म, कुल-धर्म आदि संकुचित धर्मों का अथवा सर्वभूतहित के व्यापक धर्म का – अर्थात् इनमें से जिस-तिस की स्थिति के अनुसार अथवा आत्मरक्षा के निमित्त जिस समय में जिसे जो धर्म श्रेयस्कर हो, उसको उसी धर्म का उपदेश करके जगत् के धारण-पोषण का काम साधु लोग करते हैं। इसमें संदेह नहीं कि मानवजाति की वर्तमान स्थिति में देशाभिमान ही मुख्य सद्गुण हो गया है और सुधरे हुए राष्ट्र भी इन विचारों और तैयारियों में अपने ज्ञान का, कुशलता का और द्रव्य का उपयोग किया करते हैं कि पास-पड़ोस के शत्रुदेशीय बहुत से लोगों को प्रसंग पड़ने पर थोड़े ही समय में हम क्यों कर जान से मार सकेंगे। किन्तु स्पेन्सर और कांट प्रभृति पंडितों ने अपने ग्रन्थों में स्पष्ट रीति से कह दिया है कि केवल इसी एक कारण से देशाभिमान को ही नीति की दृष्टि से मानवजाति का परम साध्य मान नहीं सकते, और जो आक्षेप इन लोगों के प्रतिपादित तत्त्व पर हो नहीं सकता, वही आक्षेप हम नहीं समझते कि अध्यात्मदृष्ट्या प्राप्त सर्वभूतात्मैक्यरूप तत्त्व पर ही कैसे हो सकता है? छोटे बच्चे के कपड़े उसके शरीर के ही अनुसार–बहुत हुआ तो जरा ढील अर्थात् बाद के लिए गुंजाइश रख कर– जैसे ब्योंतने पड़ते हैं, वैसे ही सर्वभूतात्मैक्य बुद्धि की भी बात है। समाज हो या व्यक्ति, सर्वभूतात्मैक्य बुद्धि से उसके आगे जो साध्य रखना है, वह उसके अधिकार के अनुरूप अथवा उसकी अपेक्षा जरा-सा और आगे का होगा, तभी वह उसको श्रेयस्कर हो सकता है। उसकी सामर्थ्य की अपेक्षा बहुत अच्छी बात उसके एकदम करने के लिए बतलाई जाए, तो उससे उसका कल्याण कभी नहीं हो सकता।

परब्रह्म की कोई सीमा न होने पर भी उपनिषदों में उसकी उपासना की क्रम-क्रम से बढ़ती हुई सीढ़ियां बतलाने का यही कारण है और जिस समाज में सभी स्थितप्रज्ञ हों, वहां क्षात्र धर्म की जरूरत न भी हो, तो भी जगत् के अन्यान्य समाजों की तत्कालीन स्थिति पर ध्यान दे करके 'आत्मानं सततं रक्षेत्' के ढंग पर हमारे धर्मशास्त्र की चातुर्वर्ण्य व्यवस्था में क्षात्र धर्म का संग्रह किया गया है। यूनान के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता प्लेटो ने अपने ग्रन्थ में जिस समाज-व्यवस्था को अत्यन्त उत्तम बतलाया है, उसमें भी निरन्तर के अभ्यास से युद्धकाल में प्रवीण वर्ग को समाजरक्षक के नाते प्रमुखता दी है। इससे स्पष्ट ही दीख पड़ेगा कि तत्त्वज्ञानी लोग परमावधि की शुद्ध और उच्च स्थिति के विचारों में ही डूबे क्यों न रहा करें, परन्तु वे तत्कालीन अपूर्ण समाज व्यवस्था का विचार करने से भी कभी नहीं चूकते।

समाचार पत्र के स्वामित्व एवं अन्य विषयों से सम्बंधित विवरण
फार्म - ४ (नियम ८ देखिए)

१. प्रकाशन स्थल	:	ठाकुर जगदेव चन्द स्मृति शोध संस्थान हमीरपुर नेरी
२. प्रकाशन तिथि	:	अप्रैल, जुलाई, अक्तूबर, जनवरी माह का प्रथम सप्ताह
३. मुद्रक का नाम	:	चेतराम
क्या भारतीय नागरिक है?	:	हां
पता	:	ठाकुर जगदेव चन्द स्मृति शोध संस्थान हमीरपुर नेरी गांव नेरी, डाकघर खगल, जिला हमीरपुर-१७७००१ हिमाचल प्रदेश।
४. प्रकाशक का नाम	:	चेतराम
क्या भारतीय नागरिक है?	:	हां
पता	:	ठाकुर जगदेव चन्द स्मृति शोध संस्थान हमीरपुर नेरी गांव नेरी, डाकघर खगल, जिला हमीरपुर-१७७००१ हिमाचल प्रदेश।
५. सम्पादक का नाम	:	डॉ0 विद्या चन्द ठाकुर
क्या भारतीय नागरिक है?	:	हां
पता	:	ठाकुर जगदेव चन्द स्मृति शोध संस्थान हमीरपुर नेरी गांव नेरी, डाकघर खगल, जिला हमीरपुर-१७७००१ हिमाचल प्रदेश।
६. उन व्यक्तियों के नाम व पत्ते जो समाचार पत्र के स्वामी हों तथा जो समस्त पूंजी के सांझेदार या हिस्सेदार हों।	:	ठाकुर जगदेव चन्द स्मृति शोध संस्थान हमीरपुर नेरी गांव नेरी, डाकघर खगल, जिला हमीरपुर-१७७००१ हिमाचल प्रदेश।

मैं चेतराम प्रकाशक एवं मुद्रक इतिहास दिवाकर एतद् द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी अधिकृत जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिये गए विवरण सत्य है।

हस्ता/-
चेतराम
प्रकाशक
दिनांक ३१ मार्च, २०१७

दिव्य विभूति

वज्रगुरु पद्मसम्भव : बुद्ध धर्म का भोट देश में धर्मध्वज वाहक

छेरिंग दोरजे

ईसा से साढ़े पांच सौ वर्ष पूर्व, शाक्य मुनि गौतम ने भारतवर्ष में बौद्ध धर्म का प्रचार किया। शीघ्र ही वह नवीन धर्म जम्बू द्वीप के कोने-कोने में फैल गया। केवल ढाई सौ वर्षों के भीतर मौर्य शासक अशोक महान के राज्य काल में तत्कालीन प्राचीन पश्चिमी एशिया के सभ्य देशों– मिस्र, यूनान, सीरिया तथा साईरस में पहुंच चुका था। अशोक महान के शीला लेखों से यह ज्ञात होता है कि उनके द्वारा भेजे गए धर्मदूत (Missionary) सीरिया के राजा अन्तिओक, मिस्र के राजा फिलोडेलफुस यूनान के राजा अन्तिकिन और साईरीन के राजा सिंकन्दर के दरबारों में पहुंच चुके थे। उनके अपने पुत्र राजकुमार महिन्द्र और राजकुमारी संघमित्रा ने श्रीलंका में बौद्ध धर्म की नींव डाली थी। संभवतः विश्व में धर्म प्रचारक भेजने की प्रथा अशोक महान ने ही डाली थी।

ईसा की तीसरी/चौथी शताब्दी में बौद्ध धर्म अफगानिस्तान और मध्य एशिया के मार्ग से चीन, जापान, कोरिया तथा मंचूरिया आदि देशों में जड़ पकड़ने लगा था। इसी प्रकार भारत वर्ष के बौद्ध धर्म प्रचारक समुद्री मार्ग से थाईलैण्ड, मलेशिया, इण्डोनेशिया, लाहोसे, स्वर्ण द्वीप आदि के देशों में चौथी/पांचवी शताब्दी में पहुंच चुके थे।

परन्तु क्या कारण रहा होगा कि भारत वर्ष के उत्तरी पड़ोसी देश, हिमालय के पार भोट देश (तिब्बत) में सद्धर्म को पहुंचने में लगभग तेरह सौ वर्ष लग गए। इसका कारण भोटजनों का उनके प्राचीन स्थानीय धर्म 'बोन' पर अटूट विश्वास था या अन्य? बोन धर्म संसार की आदिम धर्मों में से एक है। इसमें प्राकृतिक तत्वों में आलौकिक देव शक्ति का निहित होना माना गया है। इस धर्म की एक अनिवार्य विशेषता गूर या चेला है। किसी एक व्यक्ति में देवता या देवी शक्ति का प्रवेश हो जाता है और वह भावावेश में आकर लोगों के मानसिक तथा कायिक क्लेशों को विभिन्न अनुष्ठानों द्वारा निवारण करता है। गूर देवाधीन होने पर भविष्यवाणी भी करता है। हिमाचल प्रदेश के जनजातीय क्षेत्रों में इसको प्योनबा, ल्हापा, ग्रोग्स, धामी आदि नामों से पुकारते हैं। इस धर्म को बहुदेववाद में शुमार किया जाता है। देवतों को प्रसन्न करने हेतु नाना प्रकार की पूजा सामग्रियों तथा बलियों, सामूहिक तथा व्यक्तिगत पूजन आयोजनों के करने का जिक्र आता है। भोट देश के इतिहास से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि बोन धर्मी पुरोहितों तथा पुजारियों ने भारतीय बौद्ध धर्म का उनके देश में प्रचार का खुल कर विरोध किया है। भोट नरेश स्रोङचन गम्पो (आठवीं शताब्दी) के काल में सद्धर्म ने भोट देश में जड़े पकड़नी आरम्भ की, परन्तु उनके वंशज राजा लङदरमा (नवीं शताब्दी) ने घोर विरोध

कर नव निर्मित विहारों को जला दिया था। नव दीक्षित बौद्ध भिक्षुओं को मारा था और उन्हें चीवर छोड़ने को विवश कर दिया था। इस युग को भोट देशीय इतिहास में 'अन्धकार युग' कहा गया था। जो लगभग पोन शती तक रहा। राजा लङदरमा का शासन काल केवल छः वर्षों का था, परन्तु इसका दुष्परिणाम लम्बे समय तक चला।

वैसे तो भोट देश में बौद्ध धर्म का पदार्पण सम्राट सोङचन गम्पो (६३०-८६) के शासनकाल में उनकी दो रानियों – चीनी और नेपाली द्वारा माना जाता है। चीन की रानी वेनचेङ चीनी सम्राट ताई-चू की पुत्री थी, जो अपने साथ दहेज में शाकामुनि बुद्ध की पवित्र मूर्ति लाई थी। जिसे भोट देश की राजधानी ल्हासा में प्रतिष्ठित करने के लिए एक भव्य बौद्ध मन्दिर का निर्माण किया गया। जिससे ज्वो-रवङ (ठाकुर देवालयङ) कहा गया जो कालान्तर में विश्व विख्यात बौद्ध मन्दिर बना। जिसकी तुलना क्अीकप (रोम) के विख्यात गिरजा सन्त पीतर बासीलीकां से की जाती है। दूसरी रानी भृकुटी नेपाल के राजा अंशुवर्मन की बेटी थी, वह अपने साथ बौधिस्तव अक्षोभ्य, मैत्राय और तारा देवी की मूर्तियां ले आई। ये पवित्र मूर्तियां 'रमोछे' मन्दिर में विधिपूर्वक प्रतिष्ठित की गई। इन दोनों प्राचीन पवित्रतम मन्दिरों की विश्व स्तर पर ख्याति के कारण चीनी अधिनायक माओ के लाल चीनी स्वयंसेवक भी कुख्यात सांस्कृतिक क्रान्ति के बुरे समय में भी इन्हें नष्ट नहीं कर सके थे। परन्तु, वास्तव में तिब्बत में बौद्ध धर्म की जड़े वहां के ३७वें शासक ठि-स्रोङ देच़न (८०२-८४५ ई.) जिन्हें महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने तिब्बत का अशोक महान कहा है, के शासनकाल में ही पक्की हुई है।

राजा स्रोङचन और ठि-स्रोङ देच़न तक लगभग ढेढ़ सौ वर्षों में भारत, नेपाल, चीन और मध्य एशिया से राज्य निमन्त्रण पर बहुत से बौद्ध भिक्षु प्रचारक तिब्बत पहुंचे थे और कुछ बौद्ध ग्रन्थों के भी अनुवाद हुए थे। परन्तु स्थानीय बोन धर्मावलम्बियों के कठोर विरोध के कारण भारतीय बौद्ध धर्म को पनपने में काफी समय लगा। ऐसा प्रतीत होता है कि भोट नरेश ठि-स्रोङ देचन जिन्हें भोट इतिहास में ''धर्मराज'' कह कर पुकारा जाता है, ने दिल में ठान लिया था कि परिस्थितियां कितनी भी विपरीत क्यों न हो, वह सद्धर्म के परचम को लहरा के ही रहेंगे। अपने इस प्रयास को मूर्त रूप देने हेतु, भारत के महान **आचार्य शान्तरक्षित** को बुलाने के लिए एक नवयुवक येशे वङपो को नालन्दा विश्वविद्यालय भेजा। आचार्य ने भोट नरेश के निमन्त्रण को सहर्ष स्वीकारा और भोट युवक के साथ भोट देश की कठिन भौगोलिक तथा वातावरणीय परिस्थिति को झेलते हुए ''हिमदेश'' तिब्बत पहुंच गए। वहां पहुंचने पर राजा ने दिल खोल कर उनका स्वाागत किया और उन्हें राजभवन में ही ठहराया गया।

आचार्य शान्तरक्षित ने धर्म उपदेश के साथ-साथ सम्राट के आग्रह पर एक भव्य बौद्ध विहार का निर्माण कार्य भी संभाला। बौद्ध विहार के निर्माण के लिए उपयुक्त स्थान ''समये'' को चुना गया। ऐसा कहा जाता है कि आचार्य शान्तरक्षित को विहार निर्माण के मार्ग पर बोन धर्मी देवी-देवताओं, असुरों, पिशाचों, यक्ष और देवादि ने बहुत सी बाधायें खड़ी कर दी। दिन के समय राज मिस्त्री और मजदूर जिस कदर कार्य करते थे, रात्रि के समय स्थानीय देवी-देवता और अमनुष्य शक्तियां दीवारों

और अन्य निर्माणाधीन वस्तुओं – मिट्टी, पत्थर तथा गारा आदि को उठा कर ले जाते और उन वस्तुओं को अपने स्थान पर यथावत् पहुंचा देते। धर्मोपदेश के मार्ग में भी आचार्य को काफी कठिनाईयां सामने आई। बुद्ध धर्म के विनय की शिक्षाएं– शान्ति, मैत्री, करूणा और अहिंसा जैसे भावनापूर्ण उपदेश तत्कालीन भोट वासियों के लिए निष्प्रभावी साबित हो रहे थे।

एक दिन हताश हो कर आचार्य शान्तरक्षित ने भोट नरेश से विनती की। आपके देश के देवी-देवता, रोषी तथा दुर्दान्त हैं। मेरे जैसा विनयधर भिक्षु की शिक्षाओं और उपायों से यह निष्ठुर देवगण शान्त होने वाले नहीं लगते और न ही इनके चितदमन हो सकते हैं। इनके चितदमन के लिए भारत से महान तान्त्रिक **वज्रगुरु औड्डियान के पद्मसंभव** को यहां बुलावें। यह अपने रिद्धि बल, तान्त्रिक शिक्षाओं से इनके चित को जीत कर आपके देश से सद्धर्म का प्रचार करेंगे और मानव कल्याण का मार्ग प्रशस्त करेंगे। राजा ठि-स्रोङ देचन ने वज्रगुरु पद्मसंभव को तिब्बत बुलाने के लिए दो सुयोग्य तिब्बती युवकों शाक्यप्रभ और श्रीसिंह को नालन्दा विश्वविद्यालय, भारत भेजा। दोनों नवयुवकों ने पद्मसंभव से भेंट कर अपने राजा के संदेश को सुनाया और भोट देश आने के लिए निमन्त्रण दिया। अपने पूर्व जन्मों के प्रणिधानों के फल स्वरूप व्रजगुरु पद्मसंभव ने तिब्बत और हिमालयायी क्षेत्रों में धर्मप्रचार हेतु जाने का तुरन्त फैसला ले लिया। कुछ समय उपरान्त पद्मसंभव दोनों भोट संदेशवाहकों के साथ तिब्बत की कठिन यात्रा पर नालन्दा से निकल पड़े।

भारत से प्रस्थान कर वज्रगुरु पद्मसंभव अब हिमालयायी राज्य नेपाल पहुंचे। वहां कुछ दिन ठहर कर स्वयंभूनाथ और अन्य बौद्ध तीर्थों की यात्रा कर सामान्य जनता को तन्त्रयानादि की शिक्षाएं दी और प्राणी मात्र के कल्याणनार्थ जीवन यापन के उपदेश दिए। तत्पश्चात उन्होंने अपनी जीवन की चुनौतीपूर्ण लक्ष्य की प्राप्ति के लिए 'संसार की छत' भोट देश की कठिन यात्रा पर पग बढ़ाना आरम्भ किया। हिमालय की ऊंची हिमभण्डार, जोतों और हाड़कम्प नदियों को पार करते हुए तिब्बत के चटियल घास के मैदानी पठार में प्रवेश करते ही पद्मसंभव को वहां की बोन धर्मी रौद्र, अशान्त देवी-देवताओं और उग्र धर्मरक्षकों के विरोधित चरित्र का आभास होने लगा था। इन दैत्यवृत्ति बोन देवताओं ने वज्रगुरु के आगे के मार्ग में कई प्रकार की प्राकृतिक रुकावटें – ओलावृष्टि, बर्फवारी, बाढ़ आदि पैदा कर आगे बढ़ने से रोकने का भरसक यत्न किया। परन्तु पद्मसंभव की गुह्या तान्त्रिक शक्ति के सामने इनकी एक भी चाल नहीं चली। उनसे पैशाचिक वृत्तियों को शान्त कर बौद्ध धर्म के अधीन कुशल कार्य करने का वचन लिया गया। आगे जुङ-जुङ क्षेत्र में पहुंचने पर दुर्दान्त बोन धर्मपाल मचे-मुचे ने दिन को घोर अंधेरी रात्रि में बदल कर मार्ग अवरुद्ध कर दिया। वज्रगुरु ने तान्त्रिक क्रिया से घोर अंधेरी निर्मित रात को फिर सुन्दर, शान्त दिन में बदल दिया। बोन धर्मपाल की पैशाचिक शक्तियों को हराकर उसे बौद्ध धर्म में दीक्षित किया। वज्रगुरु के भोट राजधानी पहुंचने पर स्वयं राजा ने जनसमूह के साथ गर्मजोशी से स्वागत किया और उन्हें राजभवन ले गए।

पद्मसंभव का तिब्बत में प्रथम कार्य समये के महाविहार का निर्माण था, जिसे आचार्य

शान्तरक्षित स्थानीय राक्षसी प्रवृति के बोन देवी-देवताओं के प्रबल विरोध के कारण पूर्ण नहीं कर सके थे। पद्मसंभवन ने उन समस्त विरोधी शक्तियों की मायावी शक्तियों को अपने रिद्धिबल और तान्त्रिक शिक्षाओं द्वारा निष्फल कर उनसे महाविहार के निर्माण में सहायता करने का वचन लिया। अब महाविहार के निर्माण का मार्ग प्रशस्त हो गया। इस प्रकार वज्रगुरु पद्मसंभव ने विहार निर्माण के लिए स्वयं भूमि पूजन किया और आचार्य शान्तरक्षित ने विहार का परिमाण किया। उस समये महाविहार का प्रतिरूप प्राचीन भारत के विश्व विख्यात महाविहार औङतपुरी के अनुरुप निर्माण किया गया और वर्ष 835 ई. में बन कर तैयार हो गया। **समये विहार भोट धरती में निर्मित प्रथम बौद्ध विहार है।** महाविहार के निर्माण कार्य के पूर्ण होने पर पद्मसंभव ने भोट देश में सद्धर्म की नींव को स्थाई करने की ओर ध्यान दिया। उन्होंने पूर्व के धर्माचार्यों के मार्ग में आई बाधाओं की समीक्षा की और उन्हें यह समझने में देरी नहीं लगी कि तिब्बती जनजातियों की अविकसित प्रज्ञता के कारण ये बौद्ध धर्म के शील, अहिंसा आदि विनय की शिक्षाओं को ग्रहण करने में असमर्थ रहे हैं। अतः बौद्ध तन्त्रयान का उपदेश देकर उनकी कुंठित बुद्धि को उदार बनाकर उपयुक्त मार्ग पर जाग्रत किया। पद्मसंभव ने बोन कर्मकाण्डों का तन्त्रयान के कर्मकाण्डों से समन्वय जोड़कर बोन और बौद्ध धर्मों का सांमजस्य स्थापति कर, बोन धर्माबलम्बियों को बौद्ध विरोधी दुर्भावनाओं को पालने से दूर करने में सफलता प्राप्त की। बोन के दुर्दान्त देवी-देवताओं से जीव बलि न लेने का वचन लेकर उन्हें बौद्ध धर्मरक्षक का उपयुक्त दर्जा देकर **धर्मपाल** नाम से नवाज़ा।

अब पद्मसंभव और आचार्य शान्तरक्षित ने बुद्ध वचनों के विशाल साहित्य को भोट भाषा में अनुवाद कर वहां की रूढ़िग्रस्त जनता में सद्धर्म का व्यापक प्रचार करने के लिए व्रत लिया। इस महान उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए उन्होंने भोट देश के सात प्रतिभावान युवकों को चुना। इन सात नवयुवकों ने संस्कृत भाषा सीखने के पश्चात् आचार्य धर्मरक्षित से श्रमणेर की दीक्षा ली। यह सात युवक भोट देश के प्रथम बौद्ध भिक्षु बने और **सदमि दुन** कहलाए। संभवतः 'सदमि' शब्द जङ-जुङ भाषा से चुना गया लगता है। जङ-जुङ भाषा में सदमि का अर्थ देवमनुष्य, सद देव या देवता, मि मनुष्य, सदमि = भिक्षुओं के लिए 'सदमि' से इतर और शब्द शायद ही मिले। तत्पश्चात् नवजागरण काल में इसको **गेलोङ** (दगे-बसोङ) शब्द में बदल दिया गया था, जो अब भी प्रचलित है। बौद्ध धर्म की शिक्षाओं को व्यापक स्तर पर प्रचार करने और नव भिक्षुओं को संस्कृत तथा तिब्बती भाषा के अध्ययन के लिए विहार में व्यवस्था की गई। पद्मसंभव और आचार्य शान्तरक्षित के परामर्श पर राजा ठि-स्रोङ देचन ने संस्कृत अध्यापन तथा धर्म प्रचार को गति देने के लिए भारत के कई विद्वान बौद्ध पंडितों को बुलाया। जिनमें आचार्य विमलमित्र, आचार्य बुद्धघोष, आचार्य शान्तिगर्भ और विशुद्धसिंह चोटी के विद्वान भिक्षु थे। कुछ ही वर्षों के भीतर सुयोग्य स्थानीय युवकों की एक टोली तैयार हो गई जो संस्कृत भाषा से तिब्बती भाषा में अनुवाद करने में दक्ष थे। इन्हें लोच़ावा (लोक चश्रु) अथवा अनुवादक कहा गया। इन युवक द्विभाषियों (लोच़ावा) में वेरोचन, ज्ञानकुमार, कवा पल चे़ग्स,

येशेहोद, लुई वङपो, रिनछेन छोग, चोगरो, लुई ग्यल छन् आदि के नाम विख्यात हैं।

बुद्ध वचनों का अनुवाद कार्य का प्रारम्भ भारतीय पंडितों तथा तिब्बती लोचावा ने मिलकर किया। प्रत्येक संस्कृत शब्द का उपयुक्त तथा उचित अर्थपूर्ण तिब्बती शब्द चुना जाता था और उसे विद्वानों की स्वीकृति होने पर उस शब्द का प्रयोग होता था और भारतीय पंडितों के सहयोग से उसे अन्तिम रूप देकर लिखा जाता था। इस प्रकार इन ग्रन्थों के अनुवाद भारतीय तथा तिब्बती पंडित अनुवादक अनिवार्य रूप में मिलकर पूर्ण करते थे। इन अनुवादकों का नाम प्रत्येक पोथी के अन्त में लिखा मिलता है जो ग्रन्थ की प्रमाणिकता का साक्षी होता है। बुद्ध बचनों की अनुवादित पोथियों की संख्या एक सौ है। इस ग्रन्थ संग्रह का नाम **कनग्युर** अर्थात् बुद्धवचनानुवाद है। भारत से लुप्त हुए बौद्ध तथा भारतीय साहित्यों में से अधिकतर लेख इस महान तिब्बती भाषी संग्रह में सुरक्षित है।

वज्रगुरु पद्मसंभव ने भोट देश में बौद्ध धर्म एवं दर्शन के अध्ययन अध्यापनार्थ कई विहारों का निर्माण करवाया और तन्त्र साधकों के लिए साधना केन्द्रों को भी स्थापित किया गया। इन साधना स्थानों में महान् तन्त्राचार्यों के तत्वाधान में आज भी योगी जन अविच्छिन रूप में साधनालीन देखे जा सकते हैं। वज्रगुरु पद्मसंभव के अपूर्व आध्यात्मिक अनुभव तथा करिश्माई व्यक्तित्व और अन्य भारतीय बौद्ध आचार्यों के अनथक प्रयत्नों से सम्पूर्ण भोट देश में सद्धर्म का सब ओर बिस्तार हुआ। भोट नरेश ठि-स्रोङ देचन ने बौद्ध धर्म को अपने राज्य का **राज धर्म** घोषित किया। भोट देश से अपनी विदाई के समय वज्रगुरु ने समये महाविहार के विशाल प्रांगण में राज परिवार और अपार जन समूह को सम्बोधित किया। भगवान बुद्ध की प्रथम शिक्षा 'चार आर्य सत्य'' के दुख सत्य पर बोलते हुए उन्होंने कहा – संसार दुख है, छः प्रकार की योनियां – देव, देवासुर, मनुष्य, पशु, प्रेत तथा नर्क सब दुःख ही दुःख है। दुःख से कोई भी बच नहीं पाता। अतः आप लोगों को गुरुयोग की भावना करनी चाहिए और समस्त धर्मों के सार तत्व गुरुहृदय मन्त्र **ॐ आः हुँ, वज्र गुरु पथ सिद्धि** हूँ का जाप करना चाहिए। आज इस मन्त्र को एशिया के समस्त बौद्ध क्षेत्र में जपते हैं।

वज्रगुरु पद्मसंभव का जीवन वृत्त

औड्डियान (उद्यान) देश का राजा इन्द्रभूति (६८७-७१७ ई.) के रानिवास में कई रानियां थी, परन्तु राजा निस्संतान था। दरिद्र और भिखारियों को दान देकर राजकोष खाली कर दिया। राजकोष की पुनः आपूर्ति के लिए राजा मन्त्रियों और अनुभवी नाविकों के साथ रत्नों की खोज में समुद्र की यात्रा पर गया। समुद्री रत्नों से भरी नाव के साथ, देश लौटते समय धन्यकोष नामक सरोवर के मध्य एक असाधारण कमल पुष्प को देखा। निकट जाकर देखा कि एक अनुपम सुन्दर बालक पंखुड़ियों के सहज में आराम से लेटा है, मानो ममता भरी मां की गोदी में निश्चिन्त बैठा हो। सन्तान से वंचित राजा इसे प्राकृतिक करश्मा जान प्रसन्नतापूर्वक अपने साथ राजधानी ले आया। इसलिए उस बालक का नाम पद्मसंभव पड़ा। राजभवन में बालक का पालन पोषण दक्ष दाईयों के संरक्षण में होने लगा।

राजा इन्द्रभूति भारतीय सिद्ध सम्प्रदाय के एक प्रसिद्ध सिद्धाचार्य हुए हैं। उनका नाम चौरासी सिद्धों में आता है। महापण्डित राहुत सांकृत्यायन उन्हें सिद्ध अनंगवज्र तथा कमबलीपा दोनों का शिष्य मानते हैं। उनकी एक बहन लक्ष्मींकरा भी एक सिद्ध योगिनी थीं। लक्ष्मींकरा भी कमबली-पा की शिष्या थी। इन्द्रभूति ने कई पुस्तकों की रचना की थी। जो अब भोट भाषा में अनुवादित कर **तनग्युर संग्रह** में सुरक्षित है। उनके द्वारा संस्कृत में रचित तन्त्र की दो पुस्तकें – कुरूकुल्ला साधना तथा ज्ञानसिद्धि मिलती है। वह सिद्ध जालन्धरी - पा के समकालीन थे।

बालक पद्मसंभव अब राजसी विलासिता में योग्य परिचारकों की देख-रेख में जीवन की योवनावस्था में आगे बढ़ रहा था। जनता इनको युवराज पद्मसंभव बोलते थे। राजा इन्द्रभूति इसे अपना उत्तराधिकारी घोषित करने की सोच रहा था। राजकुमार पद्मसंभव का मन राजसी विलासिता तथा संसारिक व्यावहारिकता से विरक्त होने लगा था। वह एक दिन राजभवन की छत पर एक हाथ में कपाल और दूसरे में त्रिशूल लिए घूम रहा था। अचानक उसके हाथ से त्रिशूल छूट कर नीचे खुले मैदान में गिर गया, जहां नगर के बच्चे खेल रहे थे। दुर्भाग्यवश त्रिशूल नगर-मुख्य के लड़के के सिर पर गिरा और वह तत्काल मृत्यु को प्राप्त हो गया। नगरवासी राजा से कहने लगे राजकुमार पद्मसंभव को मौत का बदला मौत की सजा देकर न्याय किया जाए। किंकर्तव्यविमूढ़ राजा इन्द्रभूति ने प्रजा से कहा ''मैं नहीं जानता कि राजकुमार पद्मसंभव अमानव पुत्र है या चमत्कारी अवतार? इसे मृत्यु दण्ड देना उचित नहीं लगता, पर देशभद्र का दण्ड दिया जाएगा।'' क्रोधित जनता ने राजा के आदेश को मानते हुए समर्थन किया। इन्द्रभूति ने राजकुमार को अपने कक्ष में बुलाकर यह कविता सुनाई –

कमलपुष्प के बीज से पवित्र जल में।
बिन मात-पितु, अवतारित तुम बालक।
वंचित था संतान सुख से मैं।
सजाया मुकुट तुझे राजभवन में मैंने
तुम्हारे कुकर्मों ने कर दिया काम तमाम।
कुलदीपक नगर मुख्य का।
उग्र प्रजा ने सुनाया फैसला देशभद्र का तुझको।
जाना होगा अभी तुझे देश छोड़, जहां चाहो जिधर चाहो।

राजकुमार पद्मसंभव उड्डियान से विस्थापित होकर सीधा भयावह श्मशान स्थली शीतवन पहुंचा। वहां कुछ दिन ठहर कर साधना की और यमनतक (यमराज) सिद्धि प्राप्त की। उसके पश्चात् काशी पहुंचा। वहां शाक्य नामक ज्योतिषि से भेंट हुई। उनसे ज्योतिष विद्या की शिक्षा ली। तदोपरान्त पाटलीपुत्र चले गए। जहां उन्होंने चिकित्सा विद्या का अध्ययन किया। कुछ दिनों के पश्चात् उनकी भेंट आचार्य प्रभाहस्ति के दो शिष्यों–शाकामैत्री और शाकामित्र से हो गई। वह उन्हें अपने गुरु के पास ले गए और पद्मसंभव आचार्य प्रभाहस्ति से प्रवर्जित होकर **शाका सिंह** कहलाए। तत्पश्चात् आचार्य बुद्धगुप्त से महायान तन्त्र और श्री सिंह से 'महासम्पन्न' के उपदेश प्राप्त कर सूत्र तथा तन्त्र

विद्याओं से पारांगत हुए। तत्पश्चात् महासुख विस्तरण (दुर-ठोद, देछेन - दल) लंकाकूट (लंका चेग्स), पद्मकूट (पद्मा चेग्स), और रहस्य लीला (सङ्छेन रोलपा) आदि महा शमशानों में जाकर आठ विद्याओं में सिद्धियां प्राप्त की।

वज्रगुरु पद्मसंभव जब जाहोर (मण्डी, हिमाचल प्रदेश) के निकट रिवालसर पर्वत की गुफाओं में साधनारत थे, उसी समय जाहोर (मण्डी) की राजकुमारी मन्धारवा भी उन्हीं स्थानों में साधना कर रही थीं। राजकुमारी मन्धारवा ने जब पद्मसंभव को साधना करते देखा तो उससे योग शिक्षा प्राप्त करने लगी। राजा को जब राजकुमारी मन्धारवा के किसी अनजान योगी से संबन्ध का पता लगा तो राजा आग बबूला हो गए। स्वयं जाकर राजकुमारी को अज्ञात योगी के साथ देखा तो अपने साथ आए सैनिकों को आदेश दिया कि इस योगी को रज्जु से बांध लो और इसे जिन्दा जला दो। सैनिकों ने राजा की आज्ञा का पालन करते हुए पद्मसंभव को चिता पर जिन्दा जला दिया। अग्नि को अधिक तेज करने के लिए तेल के फब्बारे भी छोड़े गए। कहा जाता है कि अग्निकुंड से सप्ताह भर धुआं उठता रहा और धूं-धूं कर आग जलती रही। इस दुःखद घटना से देव तथा डाकिनियां क्षुब्ध हुए और महाघोश एवं भूकम्प आए। त्रयस्त्रिंश देव और अकनिष्ठ तथा अनाभोग व्यूह से डाकिनियां वज्रगुरु की सहायता के लिए उतर आई। एक सप्ताह गुजरने पर राजा अंगरक्षकों के साथ उस स्थान पर पहुंचे तो दान्तों तले उंगलियां चबाते रह गए। यह दृश्य देख कर दंग रह गया कि जिस अग्निकुंड में पद्मसंभव को जिन्दा जलाया था वह स्थान एक अति सुन्दर स्वच्छ जलाशय में बदल गया है। जलाशय के मध्य में एक आकर्षक कमलपुष्प के बीच पद्मसंभव आठ वर्षीय बालक के रूप में इन्द्रधनुषीय प्रतिबिम्ब से सर्वांग घेरे हुए विराजमान हैं। इस पर दुष्ट राजा को विश्वास नहीं हो रहा था। घूम-घूम कर देखने पर भी वही पुष्प सामने आने लगा। अब राजा को अपनी कुकर्म पर पछतावा होने लगा। पद्मसंभव की ओर देखते हुए राजा ने अत्यन्त दुःखी मन से अपने दुर्व्यवहार और कुकर्म पर पश्चाताप करते हुए कई बार साषाटांग दण्डवत् प्रणाम किया। अज्ञानी ज़ाहोर राजा को पद्मसंभव ने क्षमा कर दिया।

वज्रगुरु पद्मसंभव की दो योगिनियां थी। प्रथम योगनी ज़ाहोर राजा की राजकुमारी मन्धारवा थी और दूसरी योगनी भोट देश की येशे छोग्यल थी। पद्मसंभव को चित्रित करते तिब्बती थंका'' (चित्रपट) पर दो योगिनियों को पद्मसंभव के चित्र के दायें और बायें चित्रित किया जाता है। मूर्ति निर्माण में भी दोनों योगिनियों को क्रमशः दायें तथा बायें दिखाया जाता है।

पद्मसंभव ने पुनः औड्डियान देश जाकर वहां के विनयजनों को सद्धर्म का उपदेश दिया। वहां से नेपाल चले गए। वहां मृतिक नामक पर्वत गुहा में तीन मास तक साधना कर उन्हें बोधिसत्व अमितायुस ने साक्षात दर्शन दिए और वज्रकाय के रूप में अमर-अभिषेक प्रदान किया। नेपाल से वे बंगाल गए। उस समय वहां राजा रत्नप्रभा राज गद्दी पर आसीन था। बंगाल में भी वज्रगुरु ने सद्धर्म के उपदेश दिए। बंगाल से कश्मीर गए। वहां के विनयजनों को भी धर्मोपदेश देकर लोगों को बौद्ध धर्म की ओर आकृष्ट किया। पद्मसंभव की विद्वता के कारण उन्हें नालन्दा महाविहार में योगाचार का

आचार्य नियुक्त किया गया। वहां कुछ वर्षों तक सेवा देने के पश्चात् भोट सम्राट ठि-स्रोङ देचन के बुलावे पर भोट देश चले गए थे। जिसका विस्तृत विवरण ऊपर दिया जा चुका है।

उपसंहार

भारतीय इतिहास के मर्मज्ञ विद्वान स्वर्गीय ठाकुर रामसिंह जी का दृढ़ विश्वास था कि पद्मसंभव रिवालसर क्षेत्र में एक लम्बे समय तक साधनाओं में लीन रहे हैं। वह हिमाचल को अपनी साधना भूमि मानते थे। अपनी इस धारण की पुष्टि में ठाकुर जी का कथन था कि गुरु पद्मसंभव ने हिमालय क्षेत्र में बौद्ध तन्त्रयान का व्यापक प्रचार करके यहां की साधारण जनता को बौद्ध धर्म में दीक्षित किया। यही कारण रहा है कि निम्न तथा मध्यम हिमालय क्षेत्रों में बौद्ध धर्म का प्रभाव भारत के मैदानी भागों से तीन-चार सौ वर्ष पीछे तक रहा। उच्च हिमालय क्षेत्रों में वर्तमान में भी बौद्ध धर्म का प्रभाव अक्षुण्ण बना हुआ है। इन क्षेत्रों में पद्मसंभव को दिव्य बुद्ध मानते हुए **गुरु रिनपोछे** (महान गुरु) और **लोबान रिनपोछे** (महान आचार्य) कहते हैं। वर्तमान में भी हिमालय क्षेत्र में सिद्ध तथा नाथ सम्प्रदाय का अधिक प्रभाव देखने को मिलता है। वह वज्रयानी बौद्ध तथा हिन्दू सिद्ध और नाथ सम्प्रदाय के समन्वय के कारण उपजे ''महामुद्रा'' योग साधना की मुख्य उपासना से मानते है। हालांकि भारत के मैदानी भागों से बौद्ध धर्म का बारहवीं शताब्दी तक पूर्णता लोप हो चुका था।

राजा इन्द्रभूति का राज्य औड्डियान प्रदेश जहां पद्मसंभव ने अपनी बाल्य काल से पूर्व व्यस्क काल का समय राज प्रसाद में बिताया था। इस क्षेत्र को विद्वान जन आज के सवात (सुवास्तु) क्षेत्र को मानते हैं। सवात क्षेत्र (सुवास्तु) पाकिस्तान के उत्तर - दक्षिणीय क्षेत्र में सवात् नदी घाटी में स्थित है। सवात नदी उच्च शोही जोत के पास से निकल कर सवात घाटी से होकर काबुल नदी से मिलकर सिन्धु नदी में जा मिलती है।

परन्तु विख्यात तीर्थ स्थल रिवालसर (मण्डी हिमाचल प्रदेश) को बौद्ध तीर्थ ज़ाहोर स्वीकार करने हेतु तथ्यपूर्ण साक्ष्य की अनुपलब्धता के कारण, तिब्बती संस्कृति के विद्वान (Tibetologist) शंकाएं व्यक्त कर रहे हैं। यदि हम प्राचीन मण्डी और आस-पड़ोस के भौगोलिक इतिहास का अनुसरण करें तो, ज़ाहोर नामक धार्मिक तथा ऐतिहासिक स्थान या नगर होने का कहीं भी पता नहीं लगता है। वर्तमान मण्डी स्टेट अथवा नगर सोलहवीं शताब्दी से पूर्व पश्चिमी हिमालय के मानचित्र में भी नहीं था। हां स्कंद पुराण में लोमश ऋषि के आश्रम का वर्णन रिवालसर में स्थित होने का जिक्र आया है।

मध्यकालीन तिब्बती विद्वानों ने पद्मसंभव का ज़ाहोर पूर्वी बंगाल में स्थित होने बारे लिखा है। कुछ पाश्चात्य विद्वान ज़ाहोर की स्थिति सवात घाटी के आस-पास होने का अनुमान करते हैं। इनमें प्रमुख तिब्बती इतिहासविद्ध (Tibetologist) जी.तुची, एल. कादेल, ए.एच. फ्रेंके, ई.आर. गोऐपर, एच.ई. रिचर्डसन और एच. गुन्थर है। डॉ. एच. गुंथर ताज़िक देश (ताजिकिस्तान) में ज़ाहोर झील के होने की आस लगाए हुए हैं।

अतियोग के प्रख्यात आचार्य मिफम रिनपोछे रचित पुण्डरीक नामक लेख में दर्शाया गया है

कि कैसे एक डाकिनी ने पंडितों को वज्रगुरु पद्मसंभव की सात पंक्तियों की प्रार्थना सिखलाई है, जो इस प्रकार से है –

हूं! औड्डियान के उत्तर-पश्चिमी सीमान्त पर।
सुशोभित है तू कमल पुष्प डंडी पर।।
किया चमत्कार कर प्राप्त सिद्धि महान।
हुआ प्रख्यात जग में नाम पद्मसंभव से।
हैं परिजनें आपके मोहनी डाकिनियां अनेक।
चलें हम इन्हीं पग चिन्हों पर आपके।
कीजिए वर्षा वरदान महान का हमें आप।
वज्रगुरु गुरु पथ सिद्धि हूं।।

यदि हम इन ''सात पंक्ति पद्मसंभव प्रार्थना'' की समीक्षा करें तो यह संकेत छन कर सामने आता है कि पद्मसरोवर जिसे तिब्बती ''छोपद्म'' कहते हैं, जहां पर पद्मसंभव को ज़ाहोर के राजा ने जिंदा जला दिया था। वह स्थान एक सुन्दर सरोवर में बदल चुका था और उस सरोवर में एक अनुपम कमल पुष्प डंडी में पद्मसंभव को राजा और अन्य जनों ने जिन्दा देखा था। वह सरोवर औड्डिान (उद्यान) प्रदेश के उतर पश्चिमी सीमा के कहीं समीप एक पवित्र स्थान है। इस विषय पर अन्वेषकों को गहराई से खोज करने की आवश्यकता है। वैसे तो संसार में ऐसे अनेकों धार्मिक तथा ऐतिहासिक स्थान हैं, जिनको लोक मान्यता के आधार पर ही मान्यता प्राप्त है।

संदर्भ ग्रन्थ :

तिब्बती स्रोत

१. लोङ छेन रूबजम (१३०८-१३६४), जोगपा छेनपो त्रिङ थिग गि लोग्मुस।

२. ञङरल ञिमा ओजेर (११२४-११९२), जङ-लिङमा।

३. ओगयन लिङपा (१३२९-१३६७), क-थङ दुसपा।

४. तारानाथ, लोबपोन पद्मई नमथर।

५. लोडो ग्यल छन, सडग्यस ञिसपा पद्म जुङने क्यी नमथर।

English Source

६. Marica Binder Schmidt, The Lotus Born, Lif Story of Padmarsambhava.

७. Man Mohan, M.A. L.E.S. A History of the Mandi State.

हिन्दी स्रोत

८. रोशन लाल नेगी, बिष्ट, गुरु पद्मसंभव संक्षिप्त जीवनी

ग्राम बारी तुनी, डा. खराहल
जिला कुल्लू (हि.प्र.)

महान सेनानायक जनरल जोरावर सिंह का पारिवारिक जीवन भ्रान्तियां एवं निराकरण

राकेश कुमार शर्मा

भारत माता के एक महान सपूत जनरल जोरावर सिंह, जिन्होंने अपने अदम्य साहस, वीरता और पराक्रम से जम्मू राज्य की सीमाओं को सुदूर हिमालय तक पहुंचाया, उनके जन्म, प्रारम्भिक जीवन तथा पारिवारिक पृष्ठभूमि के बारे में अस्पष्ट और भ्रान्तिपूर्ण जानकारियां उपलब्ध हैं। प्रस्तुत शोध पत्र में अन्वेषित तथ्यों के विश्लेषणात्मक अध्ययन से भ्रान्तियों का निराकरण करके वास्तविक स्थिति तक पहुंचने का प्रयास किया गया है।

जोरावर सिंह का जन्म कब व कहां हुआ, इस विषय पर लेखकों में मत भिन्नता है। इतिहासकार जे.सी.स्मिथ लिखते हैं कि ''वह रियासी के नज़दीक कुशाल के निवासी थे।[१] के. एम. पाणिकर भी उन्हें कुशाल के निवासी मानते हैं।[२] नरसिंह दास नरगिस ने लिखा है कि १७८६ ई. में जोरावर सिंह ने मौजा कहलूर (वर्तमान ज़िला बिलासपुर, हिमाचल प्रदेश) के राजपूत घराने में जन्म लिया।[३] हचिंसन एवं वोगल ने लिखा है कि जोरावर सिंह कहलूरिया कहलूर के राजा का बेटा है।[४] एक स्थान पर वे ही लिखते हैं कि जोरावर सिंह कहलूर के राजा का अवैध बेटा है।[५] यह कथन प्रमाणिक सिद्ध नहीं होता। कहलूर के राजा चन्देल वंश के थे और वे अपने नाम के साथ चन्द शब्द का प्रयोग करते थे। यदि यह किसी भी रूप में राजा का बेटा होता तो इनका नाम जोरावर सिंह चन्देल या जोरावर चन्द होता। अतः यह राजा का बेटा या अवैध बेटा होने का कथन विश्वसनीय नहीं है। प्रो. सुखदेव चाड़क ने लिखा है कि उसका जन्म १७८६ में बिलासपुर (कहलूर) के एक गांव में हुआ।[६] परन्तु अपनी पुस्तक 'डुग्गर संस्कृति के मूल आधार' पुस्तक में प्रो. चाड़क ने ही लिखा है कि उसका जन्म १७८४ ई. के इर्द-गिर्द कांगड़ा ज़िला की तहसील हमीरपुर के गांव अन्सरा में एक सूर्यवंशी राजपूत परिवार में हुआ। उन्होंने ही जनरल जोरावर सिंह मैमोरियल ट्रस्ट, नादौन, जिला हमीरपुर (हि.प्र.) द्वारा वर्ष २००६ में प्रकाशित स्मारिका में अपने लेख 'जनरल जोरावर सिंह भारत का उत्कृष्ट विजेता' में लिखा है कि परिवार की परम्परा के अनुसार उनका जन्म लगभग १७८४ ई. को चन्द्रवंशीय कहलूर परिवार में गांव अन्सरा, तहसील हमीरपुर, जिला कांगड़ा में हुआ।

अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना नई दिल्ली की इतिहास दर्पण पत्रिका के अक्तूबर २००२ के अंक में उनका एक अन्य लेख – 'जनरल जोरावर सिंह की वीरता और सैन्य अभियान' शीर्षक से छपा है। इस लेख में लिखा है कि जोरावर सिंह महाराजा संसार चन्द की राजधानी नादौन के नजदीक अन्सरा गांव में स्थानान्तरित हुए। अतः सुखदेव सिंह चाड़क ने अपने अध्ययन के उपरान्त बाद में उसे गांव अन्सरा का स्वीकार किया है। परन्तु उन्होंने किसी भी लेख में प्रमाणिकता नहीं बताई है कि इस जानकारी का आधार क्या है? प्रो. भीम सिंह (सांसद) जम्मू कशमीर ने एक दैनिक समाचार

पत्र में जनरल जोरावर सिंह का जन्म वर्ष १७८६ ई. दिया है परन्तु स्थान का उन्होंने कोई वर्णन नहीं किया। शक्ति सिंह चन्देल के अनुसार जोरावर सिंह का जन्म बिलासपुर (कहलूर) के चंदेल घराने में सन् १७८६ में हुआ।[७] उन्होंने लिखा है कि प्रमाणिक जानकारी का अभाव रहा है। डॉ. सी.एल.दता ने लिखा है कि जनरल जोरावर सिंह का जन्म १७८६ ई. को गांव अन्सरा तह. नादौन जिला हमीरपुर (हि.प्र.) में हुआ।[८]

प्रेम पखरोवली ने अपने लेख 'ते नरवर योरे जग माही' में जो कि २००६ में जनरल जोरावर सिंह मैमोरियल ट्रस्ट(पंजी.) नादौन, जिला हमीरपुर द्वारा प्रकाशित स्मारिका में छपा है, में लिखा है कि १३ अप्रैल, १७८६ ई. को बालक जोरावर का जन्म ठाकुर हरजे सिंह के घर गांव अन्सरा मौजा हथोल तह. नादौन जिला हमीरपुर में हुआ था। परन्तु उन्होंने भी जानकारी के विषय में आधार वर्णन नहीं किया है।

जोरावर सिंह के जन्म स्थान, तिथि व वर्ष के सम्बन्ध में लेखकों ने अपने अलग मत दिए हैं। हिमाचल प्रदेश में जोरावर सिंह जयन्ती १३ अप्रैल को मनाई जाती है। जबकि रियासी के जम्मू-कश्मीर में १२ मार्च को मनाई जाती है। हिमाचल प्रदेश में विभिन्न संगठन १३ अप्रैल को आधार इसलिए मानते हैं, क्योंकि अधिकांश लेखकों ने १३ अप्रैल १७८६ को सर्वमान्य माना है। जम्मू-कश्मीर प्रान्त के ज़िला रियासी के विजयपुर गांव में जनरल जोरावर सिंह का परिवार रहता है। जो बतलाते हैं कि इनका जन्म १२ मार्च, १७८६ को हुआ है।[९] परिवार के अनुसार उन्हें यह जन्म तिथि राजपूत सभा जम्मू से प्राप्त हुई है।[१०] ऐसा प्रतीत होता है कि जन्म तिथि का यह अन्तर सूचना के आदान-प्रदान की किसी असावधानी से हुआ है। यद्यपि कोई सशक्त दस्तावेज इस सम्बन्ध में उपलब्ध नहीं है, तथापि अधिकांश लेखकों के मतों के आधार पर तथा उनके परिवार के कथनानुसार मार्च-अप्रैल मास, १७८६ में जनरल जोरावर सिंह का जन्म होगा निश्चित होता है।

जनरल जोरावर सिंह का जम्मू रियासी का एक परिवार बतलाता है कि जोरावर सिंह के पिता हरजी सिंह थे। जोरावर सिंह के दो अन्य भाई सरदार सिंह और दलेल सिंह थे। जम्मू-कश्मीर के ज़िला रियासी के भू-राजस्व रिकार्ड में भी इसका उल्लेख है। इस संदर्भ में प्रमाणिक जानकारी प्राप्त करने के लिए जिला बिलासपुर (हि.प्र.) और जिला हमीरपुर (हि.प्र.) के भू-राजस्व रिकार्ड को देखा गया। जिला बिलासपुर में जिला राजस्व अधिकारी से जानकारी प्राप्त करने का प्रयास किया गया, परन्तु राजस्व रिकार्ड में जनरल जोरावर सिंह से सम्बन्धित कोई जानकारी उपलब्ध नहीं हुई।

गांव अन्सरा तह. नादौन जिला हमीरपुर से भू-राजस्व रिकार्ड १६१०-११, जो कि उर्दू में लिखित है, में जानकारी प्राप्त हुई है। इस दस्तावेज के अनुसार तेजा सिंह व चतर सिंह पुत्र इन्द्र सिंह पुत्र जोरावर सिंह के नाम भूमि अंकित है।[११] १६५५-५६ के रिकॉर्ड में भी वे भूमि के मालिक दर्शाए गए है। जिसमें उनके नाम १८० कनाल भूमि दर्ज बताई है। गांव विजयपुर जिला रियासी जम्मू-कश्मीर से प्राप्त भू-राजस्व दस्तावेजों में चतर सिंह व तेजा सिंह पुत्र इन्द्र पुत्र ज़ोरावर सिंह पुत्र हरजी सिंह के नाम दर्ज हैं।[१२] अतः दोनों भू-राजस्व रिकार्ड में परिवार की वंशावली एक प्रकार की दर्शायी गई है। यही नहीं

जोरावर सिंह के भाई सरदार की परिवार की वंशावली भी एक जैसी दर्शायी है। अन्सरा के १९१०-११ के रिकार्ड में उन्हें साकत जम्मू रियासत बताया गया है। अतः इससे स्पष्ट होता है कि जनरल ज़ोरावर सिंह का पैतृक स्थान गांव अन्सरा तह. नादौन जिला हमीरपुर (हि.प्र.) है। वे जब महाराजा गुलाब सिंह की सेवा में गए तो वे परिवार सहित रियासी में ही बस गए थे।

जोरावर सिंह व उनके भाई सरदार सिंह के परिवार की चौथी पीढ़ी के परिवार के सदस्य गांव विजयपुर जिला रियासी जम्मू-कश्मीर में हैं। उनके परिवार के चौथी, पांचवीं व छठीं पीढ़ी के सदस्यों से साक्षात्कार लिए गए। सरदार सिंह के परिवार की चौथी पीढ़ी की सदस्य श्रीमती सोमा देवी पत्नी स्व. गोवर्धन सिंह, कृष्णा देवी पत्नी स्व. रत्न सिंह, कान्ता देवी पत्नी स्व. पदम सिंह ने बताया कि वे बजीर ज़ोरावर सिंह के भाई सरदार सिंह के परिवार के सदस्य हैं। उन्होंने बताया कि उन्होंने बजीर ज़ोरावर सिंह की बहादुरी के किस्से बुजुर्ग लोगों से अपनी युवावस्था में सुने हैं। उन्होंने स्वीकार किया कि वे गांव अन्सरा हमीरपुर हिमाचल प्रदेश से यहां आए हैं। जोरावर सिंह की परिवार की चौथी पीढ़ी की एकमात्र सदस्य अमर देवी पत्नी स्व. प्रीतम सिंह ने बताया कि वे मूल रूप से अन्सरा गांव के निवासी हैं। उनके पति कई बार लगान एकत्रित करने के लिए अन्सरा गांव गए थे। जोरावर सिंह के परिवार की पांचवी पीढ़ी के सदस्य बताते हैं कि बजीर जोरावर सिंह मूल रूप से गांव अन्सरा तह. नादौन जिला हमीरपुर के निवासी थे।[१३] उन्होंने बताया कि जब बजीर जोरावर सिंह महाराजा गुलाब सिंह की सेवा में आए तो उन्हें रियासी भेजा गया। उनकी योग्यता से प्रभावित होकर उन्हें रियासी का किलेदार बनाया गया। तब उन्हें विजयपुर में स्थान दिया गया जहां पर आज उनका परिवार रहता है। गांव में निवास करने वाले सुदर्शन सिंह सुपुत्र श्री विश्न सिंह सेवानिवृत बी.डी.ओ. विजयपुर जिला रियासी ने बताया कि उनके पूर्वज ठाकुर धर्म सिंह परमार बजीर जोरावर सिंह के मित्र थे। वे जोरावर सिंह के साथ रियासी में आए थे। वे हिमाचल प्रदेश में गांव वौंगटा देहरा जिला कांगड़ा के रहने वाले थे। उन्होंने बताया कि बजीर ज़ोरावर सिंह गांव अन्सरा तह. नादौन के रहने वाले थे। ग्रामीण वंशी लाल सेवानिवृत वरिष्ठ अध्यापक ने बताया कि उनके पूर्वज प्यादा के रूप में बजीर जोरावर सिंह के साथ हिमाचल से यहां आए थे। जोरावर सिंह के परिवार के कुल पुरोहित परिवार के सदस्य कुलदीप शर्मा सुपुत्र श्री तारामणि शर्मा भाषा राज अधिकारी एन.एच.पी.सी. ने बताया कि यहां का पूरा गांव जोरावर सिंह ने बसाया था। यहां पर सभी परिवार हिमाचल प्रदेश के किसी न किसी स्थान से सम्बन्ध रखते हैं। उनका परिवार एक मात्र ब्राह्मण परिवार है जो कि बजीर जी के साथ यहां आया था। उन्होंने स्वीकार किया है कि बजीर अन्सरा के निवासी थे।

गांव अन्सरा में चिनौरिया राजपूत परिवार की सदस्य श्रीमती ज्ञानो देवी पत्नी स्व.श्री विश्न सिंह ने बताया कि यहां की जमीन को आज भी 'बंजीरां दी जमीन' नाम से सम्बोधित किया जाता है। बजीर जोरावर सिंह इसी गांव में पैदा हुए थे। हम भी उन्हीं के कुल के सदस्य हैं। उन्होंने बताया कि जम्मू से उनके परिवार के सदस्य यहां आते रहे हैं।[१४] ग्रामीण श्री ध्यान सिंह (९९) सुपुत्र स्व.श्री नानक चन्द ने बताया कि हमने बुजुर्गों से सुना है कि एक सूरमा यहां पर पैदा हुआ था। जिसने सीमा पर जाकर बहादुरी दिखाई। उन्होंने बताया कि बजीर जोरावर सिंह की भूमि उनके परिवार के पास है।

उनके परिवार के सदस्य लगान लेने के लिए जम्मू से यहां आते रहे हैं।[१५] अतः भू-राजस्व रिकार्ड गांव अन्सरा हि.प्र. व विजयपुर जिला रियासी जम्मू-कश्मीर के अतिरिक्त दोनों स्थानों पर लिए गए परिवार सदस्यों व ग्रामीणों के साक्षात्कारों से प्रमाणित होता है कि जनरल जोरावर सिंह का पैतृक निवास स्थान गांव अन्सरा था।

इसके अतिरिक्त यदि इस बात को धार्मिक परिप्रेक्ष्य में जानने का प्रयास किया जाए तो भी यह सिद्ध होता है कि वे अन्सरा के ही स्थायी निवासी थे। विजयपुर जिला रियासी में परिवार के सदस्यों से उनके कुल देवता के बारे में जानकारी ली गई तो उन्होंने बताया कि उनका कुलदेवता बाबा बालकनाथ दियोटसिद्ध है। अन्सरा गांव के चिनौरिया खानदान के लोगों का कुलदेवता भी बाबा बालकनाथ है। अतः यहां के मूल निवासी होने से ही उनका मूल कुल देवता बाबा बालक नाथ दियोटसिद्ध होना संभव है, अन्यथा विजयपुर जिला रियासी जम्मू कश्मीर का कुलदेवता हिमाचल प्रदेश में हो, ऐसी संभावना कम दिखाई देती है। विजयपुर में जनरल जोरावर सिंह के परिवार के सदस्यों ने गांव में बाबा बालक नाथ का मन्दिर बनाया है। उनका कहना है कि प्रत्येक शुभ कार्य के लिए उन्हें बाबा बालक नाथ मन्दिर दियोटसिद्ध जाना संभव नहीं होता था, इसलिए वहां से पिण्डी लाकर यहां पर मन्दिर स्थापित कर दिया है। अब अपने-अपने समयानुसार वे दियोटसिद्ध मन्दिर व अन्सरा गांव जाते रहते हैं।[१६] बाबा बालक नाथ मन्दिर के साथ ही उन्होंने सती का मन्दिर भी बनाया है। परिवार के सदस्यों ने बताया कि जब जोरावर सिंह की मृत्यु की सूचना यहां पहुंची तो उनकी पत्नियां चिनाव नदी के किनारे चिता लगाकर सती हो गई। अतः उनका उस स्थान पर मन्दिर बनाया गया जो कि अब विजयपुर में स्थानान्तरित करके बनाया गया है।[१७]

जनरल जोरावर सिंह के जन्म स्थान के बारे में भ्रान्ति तब पैदा हुई जब उनके नाम के साथ 'कहलूरिया'[१८] उपनाम का प्रयोग किया जाने लगा। कहलूर हिमाचल प्रदेश में जिला बिलासपुर का पुराना नाम है। यह उपनाम उनके नाम के साथ कैसे जुड़ा, इसका कोई स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं है। इस संदर्भ में जोरावर सिंह के परिवार के सदस्यों में भी दो मत विद्यमान है। एक पक्ष के अनुसार जोरावर सिंह के पिता कहलूर रियासत में राजा के पास बज़ीर पद पर नौकरी करते थे। इसलिए उन्हें कहलूरिया कहा गया। जब बजीर जोरावर सिंह जम्मू राज्य में आए तो यहां भी उनके कहलूरिया उपनाम का प्रयोग प्रचलित रहा। वे साथ में यह भी कहते हैं कि ज़ोरावर सिंह का जन्म अन्सरा में ही हुआ है।[१९] दूसरे मत के अनुसार जोरावर सिंह जब लद्दाख को विजित करके आए तो जम्मू दरबार में उनका भव्य स्वागत किया गया। महाराजा गुलाब सिंह ने स्वयं आगे बढ़ कर उनका स्वागत किया। उन्हें गले लगाया। सभी को आदेश दिया गया कि जोरावर सिंह के सम्मान में 'जय देवा' शब्द का प्रयोग किया जाए जो कि केवल राज परिवार के सदस्यों के लिए प्रयोग किया जाता था। अतः जोरावर सिंह के इस सम्मान से महल में उपस्थित रानी ने उसे अपने मायके की ओर से होने के कारण अपना धर्म भाई बनाया था। उस रानी को कहलूरिया रानी कहा जाता था क्योंकि उसका मायका कहलूर में था। कहलूरिया रानी का भाई बनने से उनके नाम के साथ कहलूरिया उपनाम जुड़ गया।[२०] जोरावर

सिंह के भाई के परिवार के सदस्यों ने स्वीकार किया है कि जोरावर सिंह के पिता कहलूर रियासत में कार्य करते थे, परन्तु वे मूल रूप से अन्सरा के रहने वाले थे। वे मानते हैं कि कहलूर में कार्य करते समय उनके पिता के नाम के साथ कहलूरिया उपनाम जुड़ गया होगा इसलिए जोरावर सिंह के नाम के साथ भी इसका प्रयोग किया गया।[२१] ऐसा प्रतीत होता है कि उनके पिता या पूर्वजों का कहलूर रियासत के साथ कोई सम्बन्ध अवश्य रहा है। राजनीतिक भौगोलिक दृष्टिकोण से अध्ययन करे तो महाराजा संसार चन्द का शासन नगरकोट (कांगड़ा) में तथा राजा महान चन्द का शासन कहलूर (बिलासपुर) में था। इन दोनों राज्यों की सीमाएं सोलहसिंगी धार में मिलती हैं। जिनके पश्चिम में एक अन्य रियासत कुटलैहड़ रही है। अन्सरा गांव नगरकोट रियासत के एक छोर पर स्थित है जहां पर उसकी सीमाएं कहलूर रियासत के समीप हैं। अतः जोरावर सिंह या उनके पूर्वजों का सम्बन्ध कहलूर रियासत के साथ होना संभव है। जहां तक उनके कहलूर राजा के किसी भी रूप में बेटे होने का सम्बन्ध है, यह प्रमाणित नहीं होता। एक तो तब उसके नाम के साथ चन्देल राजवंश का उपनाम जुड़ा होता। दूसरा जैसा कि अनेक उदाहरण मिलते हैं कि राजा की अवैध पत्नी से भी कोई बेटा हो तो उसे रियासत में कहीं अलग स्थान देकर बसा दिया जाता था। जोरावर सिंह के सम्बन्ध में कहलूर रियासत में ऐसा कोई प्रमाण नहीं है। जिस गांव अन्सरा के भू-राजस्व रिकार्ड में उनका नाम मिलता है वह भी कहलूर रियासत में नहीं है। कुछ विद्वानों ने उसे कुशाल नजदीक रियासी का बताया है, वहां के भू-राजस्व रिकॉर्ड में इसका प्रमाण नहीं मिलता है। उन्हें अलग गांव विजयपुर में महल बनाने की क्या आवश्यकता थी जबकि वह पूरा का पूरा क्षेत्र उसके अधीन था। जोरावर सिंह वहां के निवासी नहीं थे इसलिए उन्हें विजयपुर दिया गया। जम्मू में उस क्षेत्र के लोगों की कुल देवी मां वैष्णों देवी है और इनका कुलदेवता बाबा बालक नाथ है, जो परिवार परम्परा में स्पष्ट होता है। अतः वह मूल रूप से कुशाल के निवासी भी प्रमाणित नहीं होते हैं।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न तथ्यों के विश्लेषण से प्रमाणित होता है कि जनरल जोरावर सिंह अन्सरा (हमीरपुर) निवासी थे। कहलूर दरबार में उनके पूर्वज बजीर (मन्त्री) के पद पर थे या बज़ीर जैसे किसी अन्य महत्त्वपूर्ण पद पर कार्य करते थे जिससे वे बज़ीर जोरावर सिंह कहलूरिया के नाम से प्रसिद्ध हुए।

जोरावर सिंह के बचपन के संदर्भ में यह भी कहा जाता है कि १६ वर्ष की आयु में उनके हाथों चचेरे भाई की हत्या हो गई थी। जिसका कारण भूमि विवाद बताया गया है। परन्तु इसका प्रमाणिक उल्लेख कहीं नहीं मिलता। इतना स्पष्ट है कि जोरावर सिंह अन्सरा गांव के मूल निवासी थे। अन्सरा छोड़ कर वे महाराजा गुलाब सिंह, जम्मू के सम्पर्क में आए। महाराजा की ओर से उन्हें रियासी ज़िला के विजयपुर गांव में बसाया गया। बाद में वे अपना पविार तथा कुछ अन्य लोगों को भी यहां ले आए।

जनरल जोरावर सिंह पहले पहल रियासी के किले में एक साधारण सैनिक के रूप में भर्ती हुए थे। वे अपनी वीरता व योग्यता से महाराजा गुलाब सिंह के विश्वासपात्र बन गए। उन्हें पहले रियासी

किले का किलेदार बनाया गया। उसके बाद जम्मू रियासत के अधीन किलों में राशन वितरण अधीक्षक नियुक्त किया गया। जिसमें वे बहुत सफल हुए। जब महाराजा गुलाब सिंह ने किश्तवाड़ को अपने अधीन किया तो उन्हें वहां का गवर्नर बनाया गया। १८३४ से १८४१ तक उन्होंने अपनी वीरता पराक्रम व सैन्य कुशलता से लद्दाख व बाल्तिस्तान को जम्मू रियासत का अंग बना दिया। जो आज भारत संघ का भू-भाग है। वे जून १८४१ ई. को तिब्बत विजय अभियान पर निकले। उन्होंने मानसरोवर झील व कैलाश पर्वत को जम्मू राज्य में सम्मिलित किया व राज्य की सीमाएं नेपाल से मिला दी। १२ दिसम्बर, १८४१ ई. को वे तिब्बतियों से लड़ते हुए वीरगति को प्राप्त हुए।[२२]

जोरावर सिंह के परिवारिक जीवन के सम्बन्ध में जब जोरावर सिंह के परिवार के सदस्यों से विजयपुर रियासी में जानकारी ली गई तो उन्होंने बताया कि जोरावर की तीन पत्नियां आशा देवी, बेअन्ती देवी व लाजवन्ती देवी थी। लाजवन्ती के गर्भ से दो पुत्रों ने जन्म लिया परन्तु छोटी आयु में ही उनकी मृत्यु हो गई। जब जोरावर सिंह की मृत्यु की सूचना रियासी पहुंची तो तीनों पत्नियां सती होने के लिए तैयार हो गई। आशा देवी व लाजवन्ती सती हो गई परन्तु बेअन्ती देवी को बचा लिया गया क्योंकि वह गर्भवती थी। उन्होंने एक बालक इन्द्र सिंह को जन्म दिया।[२३] आज उनका परिवार भी विजयपुर रियासी में रहता है। विजयपुर में बजीर जोरावर सिंह के परिवार के अतिरिक्त उनके भाई सरदार सिंह का परिवार, उनके मित्र धर्म सिंह परमार का परिवार व कांगड़ा जनपद से यहां गए हुए अन्य लोगों के परिवार के सदस्य रहते हैं। वहां पर आज भी जोरावर सिंह के परिवार के सदस्यों को वजीर का परिवार कहकर सम्बोधित करते हैं। इन तथ्यों के आधार पर इस वीर महान सपूत के पारिवारिक जीवन के सम्बन्ध में प्रचलित भ्रान्तियों का पर्याप्त सीमा तक निराकरण हो जाता है जिसमें राजस्व रिकार्ड एक पुष्ट प्रमाण है। यहां अन्सरा तथा बीजेपुर (विजयपुर) जम्मू के भूराजस्व रिकार्ड की वंशावली प्रमाण रूप में प्रस्तुत है –

भूराजस्व विभाग रिकॉर्ड
टीका अन्सरा मौजा हथोल तहसील हमीरपुर, जिला कांगड़ा मरतवा साल १९१०-११, १९१३-१४
पैमाना कब्जा, कौम/गोत राजपूत चनौरिया

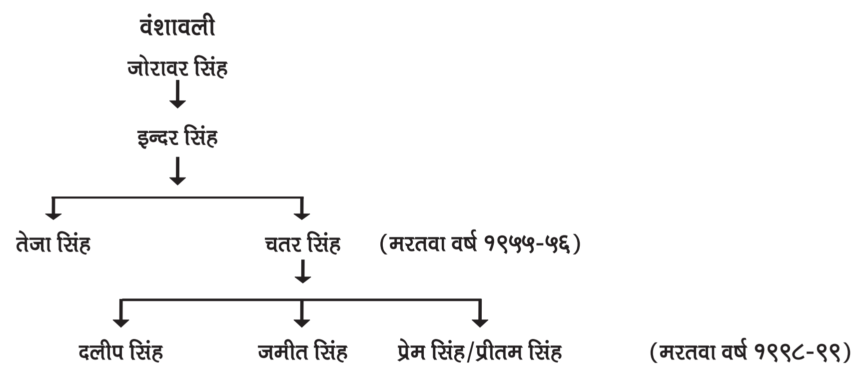

१९१०-११, १९१२-१३ के भू-राजस्व रिकार्ड में यह भी लिख गया है कि तेजा सिंह व चतर सिंह विसरान ईन्दर सिंह कौम राजपूत चनौरिया साकत रियासत जम्मू के तहत वे १८० कनाल भूमि के स्वामी हैं।

भू राजस्व विभाग रिकॉर्ड
रजरा नसव वरुए रिकॉर्ड मैकमा माल खानदान जनरैल बजीर जोरावर सिंह चिनौरिया राजपूत
हाल सकना बीजेपुर तह. रियासी जिला उधमपुर रियासत जम्मू कश्मीर

वंशावली

हरजी

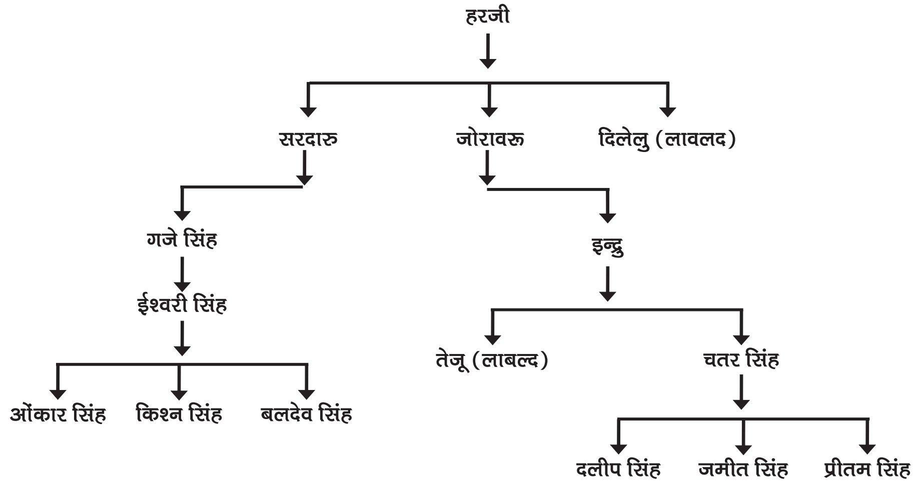

नोट : दिनांक २७.१२.१६ को भू-राजस्व विभाग जिला रियासी जम्मू कश्मीर से सजरा नसब प्राप्त हो गई। जिसके १९९८ -१९९९ तक उपरोक्त वंशावली को वर्तमान परिवारों तक बताया गया है।

संदर्भ :

१. G.C. Smith, A History of the reigning family of lahore etc. Culcutta, 1897, P. 198
२. नरसिंह दास नरगिस, जोरावर सिंह (उर्दू में) चांद, पब्लिकेशन हाऊस, जम्मू, १९६४, पृ.७
३. J. Huchison, L.R. Cp, S.E.J. PH Vogel, History of Punjab Hill States of lohre 1933 (Vol. II) Department of Language and culture Himachal Pradesh, 1982, P. 555
४. Ibid p. 663
५. K.M. Panikar, the Founding of the Kashmir State, A Biography of Maharajas Gulab Singh 1792-1858, London 1953, Appendix II. P. 167
६. Diwan Kirpa Ram, Gulabnama, Translated from Persioan and annitated by sukhdev singh Charak and Anita Chark Billowaria, Gulshan Books, Srinagar, Kashmir, 2005, P. 80
७. शक्ति सिंह चन्देल, हिमाचल का वीर योद्धा : जनरल जोरावर सिंह कहलूरिया, त्रैमासिक सोमसी पत्रिका, हिमाचल कला संस्कृति भाषा अकादमी, शिमला, अंक जनवरी १९७७
८. Dr. C.L. Datta, General Zorawer Singh His Life and Achievements in Ladakh, Baltistan and Tibet, Deep and Deep Publication New Delhi- 1984, P. 20
९. श्री जगदेव सिंह और श्री जयदेव सिंह (५वीं पीढ़ी) सुपुत्र स्वर्गीय श्री प्रीतम चन्द गांव विजयपुर, जिला रियासी, जम्मू-कश्मीर ४.१०.२०१६ को साक्षात्कार
१०. श्री नरदेव सिंह सुपुत्र स्वर्गीय श्री रतन सिंह (छठीं पीढ़ी) विजयपुर, ४.१०.२०१६ को साक्षात्कार

११. भू-राजस्व अभिलेख, जमाबन्दी, कुर्सीनामा, मरतबा वर्ष १६१०.११ टिक्का अन्सरा, तहसील हमीरपुर, जिला कांगड़ा
१२. सजरा नस्ब, खानदान, बजीर, जोरावर सिंह चिनौरिया राजपूत मौजा विजयपुर तह. रियासी, जिला उधमपुर, जम्मू कश्मीर
१३. श्री जगदेव सिंह, श्री जयदेव सिंह व श्री जसवीर सिंह सुपुत्र श्री प्रीतम सिंह, श्री सुखदेव सिंह, श्री राजेन्द्र सिंह व श्री देवेन्द्र सिंह सुपुत्र श्री जमीत सिंह (५वीं पीढ़ी) श्री नरदेव सिंह व श्री राकेश सिंह सुपुत्र श्री रतन सिंह (छठीं पीढ़ी) विजयपुर (जम्मू) के जनरल जोरावर परिवार के सदस्यों से ३.१२.२०१६ को साक्षात्कार
१४. श्रीमती ज्ञानो देवी (आयु ६५ वर्ष) पत्नी श्री विश्न सिंह, गांव अन्सरा, तहसील नादौन, जिला हमीरपुर हि.प्र. से २६.१०.२०१६ को साक्षात्कार
१५. श्री ध्यान सिंह (६६ वर्ष) सुपुत्र स्वर्गीय नानक चन्द, अन्सरा से २६.१०.२०१६ को साक्षात्कार
१६. श्री जयदेव और जगदेव चन्द सुपुत्र श्री प्रीतम सिंह विजयपुर से ४.१०.२०१६ को साक्षात्कार
१७. श्री जसवीर सिंह सुपुत्र श्री प्रीतम सिंह व श्री सुखदेव सिंह सुपुत्र श्री जमीत सिंह विजयपुर से साक्षात्कार
१८. Diwan kirpa Ram, Gulabnama p. 80, J Hichison and Vogel, History of the Punjab Hill States Vol II, P. 555, 663
Lama Longang Chutakal, Chepalil, La Chuthim Nima-Noain-A-Namther (Bhoti) Rinjong Gompa Ladhakh 1848, P. 186 (Translated by Sh. Chhering Dorje ji Some pages form my request to related by General Zorawer Singh at thakur Jagdev Chand Samriti Shodh sansthan Neri, Distt. Hamirpur (H.P.)
१९. श्री सुखदेव सिंह सुपुत्र श्री जमीत सिंह विजयपुर
२०. श्री जगदेव सिंह, श्री जयदेव सिंह व श्री जसवीर सिंह सुपुत्र स्वर्गीय श्री प्रीतम सिंह विजयपुर
२१. श्री संजय सिह सुपुत्र श्री गोवर्धन सिंह, विजयपुर
२२. नरसिंह दास नरगिस, जोरावर सिंह, पृ.६६
A.H. Franke, A History of Ladakh, Gulshan Books, Kashmir, 1907 Reprint, 2008, P. 163
Dr. C.L. Datta, General Zorawer Singh His Life and Achievements, P. 20
२३. श्री जयदेव सिंह, श्री जगदेव सिंह व श्री जसवीर सिंह सुपुत्र स्वर्गीय श्री प्रतीम सिंह विजयपुर

शोधार्थी, जीवाजी विश्वविद्यालय,
ग्वालियर (मध्य प्रदेश)

श्रद्धेय ठाकुर रामसिंह जी का जन्म दिवस

चेतराम गर्ग

शोध संस्थान के संस्थापक एवं मार्गदर्शक मा. ठाकुर राम सिंह जी का १०२वां जन्म दिवस कलियुगाब्द ५११८ विक्रमी संवत् २०७४ फाल्गुन प्रविष्टे ४ (१५ फरवरी, २०१७) को शोध संस्थान में मनाया गया। इस अवसर पर हवन यज्ञ का आयोजन किया गया तथा ठाकुर जी द्वारा किए गए कार्यों को स्मरण किया गया। मनु धाम के अध्यक्ष पण्डित जगन्नाथ शर्मा ने विभाजन के समय स्वयंसेवकों द्वारा किए गए कार्यों तथा ठाकुर रामसिंह जी की कार्यकुशलता पर प्रकाश डाला। उन्होंने बताया कि ठाकुर जी अपने कार्य में सदैव निर्भीक और सजग रहते थे। वही प्रेरणा वे स्वयंसेवकों को देते थे। हमें उनके साथ लम्बे समय तक काम करने का अवसर प्राप्त हुआ। इस अवसर पर शोध संस्थान के अध्यक्ष श्री विजय मोहन कुमार पुरी जी ने भी ठाकुर जी के साथ रहे सम्बन्धों एवं सरस्वती नदी पर किए जाने वाले कार्य के लिए सतत् दी जाने वाली प्रेरणा का स्मरण किया।

साधारण सभा

कलियुगाब्द ५११८ विक्रमी संवत् २०७४, फाल्गुन प्रविष्टे ४ (१५ फरवरी, २०१७) अपराह्न २.०० बजे से शोध संस्थान नेरी के गोष्ठी कक्ष में साधारण सभा का आयोजन हुआ। सर्वप्रथम माननीय बाबा साहिब आपटे और माननीय ठाकुर जी के चित्र को अध्यक्ष जी द्वारा माल्यार्पण किया गया। इतिहास पुरुष का पाठ एवं दिवंगत् आत्माओं को श्रद्धाञ्जलि दी गई। शोध संस्थान के महासचिव श्री राजेन्द्र शर्मा ने गत् वर्ष किए गए कार्यक्रमों की विस्तृत जानकारी साधारण सभा में रखी। निदेशक मण्डल में लिए गए निर्णयों को भी साधारण सभा के समझ रखा। उन्होंने बताया कि ठाकुर राम सिंह जन्म शताब्दी वर्ष के अन्तर्गत हुए कार्यक्रमों से व्यापाक सम्पर्क हुआ है। इस सम्पर्क से शोध संस्थान के कार्य को भविष्य में लाभ मिलने वाला है। आगामी कार्यक्रमों की जानकारी देते हुए उन्होंने बताया कि लेखकों के प्रशिक्षण के लिए कार्यशाला तथा भारतीय परम्परा में गौत्र परम्परा पर राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन प्रस्तावित है। साधारण सभा में पधारे सदस्यों ने मुक्त चिन्तन में अपने-अपने विचार व्यक्त किए जिससे शोध संस्थान के कार्य को गति मिले। अध्यक्ष श्री विजय मोहन कुमार पुरी जी ने सभी को मिलकर व उत्साह काम करने की प्रेरणा दी।

लोक रामायण पर गोष्ठी

शिमला जिला की सुन्नी तहसील के नलावण गांव में कलियुगाब्द ५११८, विक्रमी संवत् २०७४, फाल्गुन प्रविष्टे ७ (१८ फरवरी, २०१७) को शिमला जनपदीय लोक रामायण पर गोष्ठी का आयोजन किया गया। जिसमें शोध संस्थान के लेखक प्रमुख डॉ. ओम प्रकाश शर्मा, केन्द्रीय

विश्वविद्यालय के भौतिक विभागाध्यक्ष डॉ. भाग चन्द चौहान, डॉ. विकास शर्मा, डॉ. मनोज शर्मा, दीप राम गर्ग, आत्माराम शास्त्री, ओम प्रकाश शर्मा, उमाशंकर शर्मा, रमेश रांगड़ा, योगराज शर्मा, विशाल सांगल, रोहित परमार आदि विद्वानों ने भाग लिया। दीप राम गर्ग ने लोक रामायण के विविध पक्षों को विद्वानों के समक्ष रखा।

१६वां डॉ. विष्णु श्रीधर वाकणकर राष्ट्रीय पुरस्कार

प्रतिवर्ष बाबा साहिब आपटे स्मारक समिति, दिल्ली द्वारा दिया जाने वाला राष्ट्रीय विष्णुश्रीधर वाकणकर पुरस्कार विदुषी डॉ. शशि वाला को कलियुगाब्द ५११८, विक्रमी संवत् २०७४ (१६ मार्च, २०१७) को सरस्वती शिशु मन्दिर नोएडा के सभागार में प्रदान किया गया। डॉ. शशि वाला भारतीय विद्या भवन, दिल्ली केन्द्र में अधिष्ठाता के पद पर रहते हुए भारतीय राष्ट्रीय सांस्कृतिक धरोहर के गौरवमय इतिहास पर अनुसंधान, संरक्षण एवं संवर्धन में अपना अमूल्य योगदान दिया है।

समन्वय प्रमुख

शोध संस्थान नेरी, हमीरपुर (हि.प्र.)

राज्य स्तरीय किन्नौर महोत्सव, रिकांगपिओ

राज्य स्तरीय किन्नौर महोत्सव, किन्नौर की देवभूमि के जिला मुख्यालय रिकांगपिओ में वर्ष 1987 से बड़ी धूम धाम के साथ मनाया जाता आ रहा है। इससे पूर्व यह जनजातीय उत्सव, फुलयाच लबी आदि नाम से जिला स्तरीय उत्सव के रूप में मनाया जाता था। यह उत्सव 30 अक्तूबर से 2 नवम्बर तक जिला मुख्यालय रिकांगपिओ में बड़ी धूम–धाम के साथ मनाया जाता है।

इस उत्सव के आयोजन का उद्देश्य जनजातीय जिला की सांस्कृतिक धरोहर को जीवन्त बनाए रखने के साथ–साथ जिले के उत्कृष्ट हस्कला एवं हथकरघा, कृषि एवं बागवानी उत्पादों को स्टाल तथा प्रदर्शनियों का आयोजन कर इसके विक्रय का मार्ग प्रशस्त करने के अतिरिक्त देश एवं कार्यक्रमों के माध्यम से राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता को मजबूती प्रदान करना है। इसके अलावा पर्यटन की अपार सम्भावनाओं के मध्यनजर भी यह महोत्सव देशी एवं विदेशी पर्यटकों का केन्द्र रहता है।

उत्सव एवं त्यौहार आपसी भाईचारे तथा एकता का प्रतीक है। इसलिए सभी को ऐसे उत्सवों में बढ़चढ़कर सहभागिता से इनके सफलतापूर्वक आयोजन में भरपूर सहयोग देना चाहिए।

(डॉ. नरेश कुमार लठ)
भा.प्र.से., उपायुक्त एवं अध्यक्ष
राज्य स्तरीय किन्नौर महोत्सव समिति,
जिला किन्नौर स्थित रिकांगपिओ